प्रसीडेन्ट
देवराज सुराणा

सैक्रेट्री
अभयराज नाहर

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय
मेवाड़ी बाजार, ब्यावर (राज०)



मुद्रक :
पं० बालकृष्ण उपाध्याय
श्री नारायण प्रिन्टिंग प्रेस,
ब्यावर.

सहायक गणों की शुभ नामावली

दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडितरत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभाव- शाली व्याख्यान सीरीज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्न- लिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके लिए सहर्ष धन्यवाद है:—

रुपये:—

१००१) श्री श्वे० स्था० जैन महावीर मण्डल उदयपुर

५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया सिहोर की छावनी

५००) " " गुलराजजी पूनमचन्दजी मदनगंज

३००) " " चौथमलजी सुराणा नाथद्वारा

२५०) { " " कुंवर मदनलालजी संचेती ब्यावर
" " जीवराजजी कोठारी नसीराबाद }

२०१) " " साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचन्द भँवरलाल जी मेहता धानमण्डी उदयपुर

२००) " " शंभूमलजी गंगारामजी बम्बई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचन्दजी सा० चोपड़ा सोजत सी

१५१) " " चन्दनमलजी मरलेचा शुलाबजार बैंगलो

१५१) " " गेंदालालजी मोतीलालजी सा० पोरवाड़

१५१) " " हजारीमलजी चम्पालालजी सगरावत मु० निम्बाहेड़ा (र

१५०) " " राजमलजी नन्दलालजी भुस

१५०) श्रीमान् सेठ हस्तीमलजी जेठमलजी जोधपुर

१२१) „ „ कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सूरज बाई कोटेचा फर्म कन्हैयालालजी चांदमलजी कोटेचा, बोदवड़ (पू० खा०)

१२५) „ „ जिनगर अमरचन्दजी इन्द्रमलजी गोतमचन्दजी जैन गंगापुर

१२५) „ „ कस्तुरचन्दजी पुनमचन्दजी जैन गंगापुर

१२५) „ „ ठेकेदार तोलारामजी भंवरलालजी उदयपुर

१२५) „ „ धनराजजी फतहलालजी उदयपुर

१२५) „ „ श्रीमती सोभाग्यवती तारादेवी बाई कोटेचा फर्म श्रीमान् मांगीलालजी केसरीचन्दजी कोटेचा भुसावल (पू० खा०)

१०१) „ „ रंगलालजी झामड़ नांदूरावाले की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती तुलसीबाई नांदूरा(बरार)

१०१) श्रीमान् जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)

१) श्रीमान् सेठ पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातेश्वरी मोहन बाई उदयपुर

„ „ मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरड़िया मु० कटंगी (बालाघाट)

„ „ गणेशलालजी भँवरलालजी पंसारी कोटा

„ „ अमोलकचन्दजी बोहरा फर्म रखबचन्दजी लालचन्दजी जैन रामगंज मण्डी

„ „ जसराजजी मोहनलालजी बोहरा मु० सोरापुर भण्डार

१०१) श्रीमान् सेठ सूरजमलजी सा० बोथरा फर्म कन्हैयालालजी इन्दरमलजी जैन रामगंज मण्डी

१०१) सो० पार्वती बाई फर्म उत्तमचन्दजी नवलचन्दजी एण्ड सन्स बरडिया जलगांव (पू० खा०)

१०१) श्रीमान् सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई मु० चींचखेड़ा (तालुका, जामेनर (पोस्ट) फतहपुर (पू० खा०)

१०१) " " गणेशमलजी छत्तीसा बोहरा की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती पानबाई खामगांव

१०१) " " मगनीरामजी हणुमतमलजी झामड़ तर्फे श्रीमान् उत्तमचन्दजी रतनलालजी झामड़ मु० खामगांव (बरार)

१०१) " " रामचन्द्रजी बोथरा अपने स्व० पिताजी सेठ घासीलालजी की स्मृति में तांदला बरार

१०१) " " धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ (मेड़सी-वाला) मु० पो० आकोला (बरार)

१०१) " " रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा धामणगांव (वरोरा म० प्र०)

१०१) " " मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी श्रीमती राजीबाई वरोरा (म०प्र०)

१०१) " " भेरूलालजी अणतमलजी वरोरा (म० प्र०)

१०१) " " सागरमलजी राजमलजी बोहरा (चन्दन खेड़ा वाला) वरोरा (म० प्र०

१०१) " " गणेशमलजी गुलाबचन्दजी गोठी वरोरा

१०१) श्रीमान् सेठ मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा (अड़ेगांव वाला) वणी (बरार)
१०१) " " बालचन्दजी ताराचन्दजी कोटेचा वणी (बरार)
१०१) " " चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व० पानमलजी चोरड़िया की धर्मपत्नी श्री ताराबाई वणी (बरार)
१०१) " " मुलतानमलजी बलवन्तराजजी खींचा मु० साबर गांव (बरार)
१०१) " " प्राणलालजी सा० सांखला उदयपुर
१०१) " " माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी जयपुर
१०१) " " जवाहरमलजी मुलतानमलजी बम्ब भुसावल
१०१) " " हीरालालजी मोतीलालजी धानेचा बोहरा खामगांव
१०१) " " मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला बैंगलोरसिटी
१०१) " " कन्हैयालालजी बछराजजी सुराणा बागलकोट
१०१) " " नवरतनमलजी सिंघवी फूलिया कलां
१०१) " " मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़ (राजाखेड़ी वाला) मन्दसौर
" " लालचन्दजी मोतीलालजी ललवानी तोंडापुर (खानदेश) स्वर्गीय पिताजी प्रतापमलजी की स्मृति में ।
) " " बसंतीलालजी सुन्दरलालजी जैन पिपलिया
" " देवराजजी जीतमलजी बीजापुर
१) " " जीवराजजी महता की धर्मपत्नी चन्द्रकलाबाई पूना

१०१) श्रीमान् सेठ रतनचन्दजी सेसमलजी, बांदरा बम्बई
१०१) „ „ शम्भुमलजी माणकचन्दजी चोरड़िया
मैलापुर मद्रास ४
१०१) „ „ कुन्दनमलजी पुखराजजी लूंकड़ बैंगलोर २
१२१) „ „ ए० म० कानमलजी जैन c/o एम० नथमलजी
एण्ड ब्रादर्स नं०१०३/1 सिदिंगरोड़ बैंगलोर १
१०१) „ „ खींवराजजी चोरड़िया नम्बर ३६ जनरल
मुथिया स्ट्रीट साहूकार पेठ मद्रास -१

अभूतपूर्व प्रकाशन ! सर्वोपयोगी प्रकाशन !!

आचार्य हेमचन्द्र द्वारा प्रणीत सर्वाधिक प्रमाणिक

प्राकृत व्याकरण का

अत्यन्त उपादेय और विस्तृत व्याख्यात्मक

हिन्दी अनुवाद

व्याख्याकार—स्व० उपा० श्री प्यारचन्दजी म० सा०

प्राकृत भाषा में संगुंफित एवं रचित साहित्य "भारतीय संस्कृति, भारतीय इतिहास, भारतीय दार्शनिक विविध धाराओं, भारतीय सामाजिक प्रणालियों और भारतीय विविध भाषाओं" पर अधिकृत तथा प्रमाण पूर्ण प्रकाश प्रक्षिप्त करता है। इस दृष्टि से प्राकृत-भाषा का आज भारतीय विविध कालेजों में तथा भारतीय युनिवरसीटियों में अध्ययन अध्यापन कराया जाता है। किन्तु भाषा के साथ व्याकरण का पढ़ना कितना अनिवार्य है? इसकी कहने की आवश्यकता नहीं है।

इसी महत्वपूर्ण बात को ध्यान में रख कर स्वर्गीय उपा० म० सा० ने इस व्याकरण पर विस्तृत हिन्दी व्याख्या है। जो सभी दृष्टियों से परिपूर्ण है और सर्वाङ्ग सम्पन्न। इसकी पृष्ठ संख्या लगभग एक हजार से भी ऊपर है। यह यथा साध्य शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है। पाठक गण प्रतीक्षा करें।

श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय

मेवाड़ी बाजार, ब्यावर (अजमेर-राजस्थान)

युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला ।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्तिं चतुर्थमल्लः ॥

विषयानुक्रमणिका





असत्य-परिहार



स्तुतिः—

मन्दार सुन्दर नमेरु सुपारिजात,
सन्तानकादि कुसुमोत्कर वष्टिरुद्धा।
गन्धोद विन्दु शुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्यः दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहां तक स्तुति की जाय? हे प्रभो! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ?

प्रभो! आन्तरिक भक्ति से परिपूर्ण होकर देवगण आपके समवसरण की रचना करते हैं। उस समवसरण की रचना के

सौन्दर्य का और रमणीयता का क्या कहना है ? जब मर्त्यलोक के शिल्पकलाकुशल मनुष्यों की शिल्पमयी रचना भी विस्मय उत्पन्न करने वाली हो सकती हैं तो अलौकिक सामर्थ्य से सम्पन्न देवों की रचना मनोहर और आश्चर्यजनक न होगी ? और फिर वह तो मजदूरी पाने के लिए नहीं, आजीविका के लिए नहीं, पर हार्दिक उत्साह से, उल्लास से, श्रद्धा-भक्ति से और परम प्रीति से प्रेरित हो कर समवसरण की रचना करते हैं। देवगण समवसरण की रचना में अपना समस्त रचना कौशल लगा देते हैं। अतएव वह एक अद्वितीय, असाधारण रचना होती है।

प्रभो ! जब आप उस सुरविनिर्मित समवसरण में विराजमान होते हैं तो देवताओं के आनन्दोल्लास की कोई सीमा नहीं रह जाती। हर्षित होकर वे देवता मंदार, सुन्दर, नमेरु, सुपारिजात और सन्तानक नामक कल्पवृक्षों के फूलों की वर्षा करते हैं। सुगन्धित जल की वर्षा करते हैं। इस प्रकार एक ओर देवगण फूलों की और गंधोदक की वर्षा करके सम्पूर्ण वायुमण्डल को प्रशस्त बनाते हैं और दूसरी ओर आपके पावन वचनों की वर्षा होती है, जिससे भव्य प्राणियों का आन्तरिक वातावरण अर्थात् अत्यन्त पवित्रतामय हो जाता है।

भगवान् की वाणी की पवित्रता का क्या वर्णन किया जा सकता है ? एक-एक शब्द ही मानों एक-एक पुष्प है जो समग्र अन्तरात्मा को परम पावन बना देता है। भगवान् आदिनाथ के मुखारविन्द से निकले हुए कल्याणकारी, ओजस्वी; तेजस्वी वचनों को श्रवण करने वाले और अवधारण करने वाले भव्य प्राणी

संसार रूपी समुद्र से पार हो जाते हैं और सदा के लिए अनन्त अव्याबाध सुखस्वरूप मोक्ष में पहुँच जाते हैं।

भगवान् की वाणी साधारण मानव की वाणी के समान नहीं होती। तीर्थंकर भगवान् प्रथम तो सर्वोत्कृष्ट पुण्य के धनी होने के कारण अद्वितीय प्रभावशाली होते हैं। फिर घनघातिया कर्मों का समूल क्षय कर देने के कारण उनमें अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य आदि आत्मिक गुण प्रकट हो जाते हैं। इन गुणों के कारण उनकी वाणी में अद्भुत सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। भगवान् की वाणी अतिशय मधुर, मनोज्ञ, प्रभावजनक, प्रशस्त और पावन होती है। शास्त्रकारों ने तीर्थंकर भगवान् की वाणी के कतिपय गुणों का संकलन करके शास्त्र में उल्लेख किया है।

भगवान् की वाणी की विशेषताओं की गणना करना शक्य नहीं है, तथापि उसके कतिपय गुणों को पैंतीस वचनातिशयों के रूप में बतलाया गया है। वह इस प्रकार हैं:—

(१) संस्कारवत्ता-प्रभु की वाणी संस्कार से सम्पन्न होती है। वह अर्थ की अपेक्षा से भी और शब्दों की अपेक्षा से भी सुसंस्कार युक्त होती है। उसमें न तो आर्थिक असंस्कृति के लिए अवकाश होता है और न व्याकरणादि की दृष्टि से ही।

(२) उदात्तता—भगवान् अनन्त बल-वीर्य से सम्पन्न होते हैं, अतएव उनके स्वर में न मंदता होती है और न शिथिलता। वे उच्च स्वर से देशना फरमाते हैं। यह उस वाणी का उदात्तता गुण है।

(३) उपचार युक्तता—प्रभु की वाणी शिष्टतापूर्ण होती है. उसमें ग्राम्यता नहीं होती।

(४) गम्भीरता—जैसे मेघ की ध्वनि गम्भीर होती है उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् की दिव्यध्वनि भी अतिशय गम्भीरता से युक्त होती है।

(५) अनुनादी—भगवान् की वाणी का अनुनाद होता है, अर्थात् प्रतिध्वनि होती है।

(६) दाक्षिण्य—गम्भीर से गम्भीर तत्त्वों का निरूपण करने में भाषा का जटिल, गूढ़ और दुर्बोध हो जाना स्वाभाविक है। प्रायः देखा जाता है कि जब कोई छद्मस्थ विद्वान् किसी गूढ़ विषय का प्रतिपादन करता है तो उसकी शब्दावली भी गम्भीर हो जाती है। परन्तु भगवान् की क्षमता अपूर्व है। विषय कितना ही गूढ़ क्यों न हो, भगवान् की वाणी सरल ही रहती है।

(७) उपनीतरागत्व—भगवान् के स्वर में कुछ ऐसी विशेषता होती है कि सुनने वाले चकित रह जाते हैं, मंत्रमुग्ध से हो जाते हैं। प्रतिपाद्य विषय में श्रोताओं के मन में बहुमान उत्पन्न हो जाता है।

(८) महार्थता—व्याख्येय विषय में महानता होती है और पुष्टता भी होती है। उनके थोड़े-से शब्दों में भी विशाल अर्थ छिपा रहता है।

(९) पूर्वापराविरुद्धता—अल्पज्ञों की वाणी में और रचनाओं में भी प्रायः एक दोष देखा जाता है—पूर्वापरविरोध का। वे पहले जो बात कहते हैं आगे चलकर कोई ऐसी बात कह देते

हैं कि उससे पहले की बात का विरोध हो जाता है। उनकी बातों में असंगति होती है। मगर सर्वज्ञ की वाणी में यह दोष तनिक भी नहीं होता।

(१०) शिष्टता—भगवान् की वाणी अत्यन्त शिष्टतापूर्ण होती है। उससे उनकी ऐसी लोकोत्तर शिष्टता सूचित होती है, कि जिसकी तुलना नहीं हो सकती।

(११) असंदिग्धता—भगवान् जिस विषय की प्ररूपणा करते हैं, उसे इतनी स्पष्टता के साथ समझाते हैं कि श्रोताओं को संदेह नहीं रह जाता।

(१२) भगवान् के वचन निर्दोष होते हैं और साथ ही इतने विशद कि शंका समाधान के लिए गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

(१३) हृदयग्राहिता प्रतिपाद्य विषय को भगवान् इस शैली से प्रतिपादन करते हैं कि श्रोताओं का मन सहज ही आकर्षित हो जाता है और कठिन विषय भी सरलता से समझ में आ जाता है।

(१४) देशकालानुरूपता —मूल तत्त्व यद्यपि शाश्वत होते हैं और समय के परिवर्त्तन के साथ उनमें कोई परिवर्त्तन नहीं हो सकता, तथापि उनका निरूपण देश और काल को दृष्टि में रखकर किया जाय तो सुगमता होती है। भगवान् की वाणी में यह गुण भी होता है।

(१५) तत्त्वानुरूप—देश-काल का अनुसरण करने पर भी तत्त्व के स्वरूप के अनुरूप ही भगवान् का उपदेश होता है।

(१६) अप्रकीर्णप्रसृतता—एक विषय का प्रतिपादन करते-करते विषयान्तर को उसमें न घुसेड़ना और किसी विषय का अतिविस्तार न करना।

(१७) भगवान् के मुखारविन्द से निकले हुए समस्त पद और वाक्य परस्पर सापेक्ष होते हैं। उनमें कहीं किसी प्रकार की असम्बद्धता नहीं होती।

(१८) भगवान् की वाणी इतनी उत्तम होती है कि उसी से उनका अभिजात्य प्रकट हो जाता है।

(१९) जैसे भूखे को घी और गुड़ मिल जाय तो उसके सुख की सीमा नहीं रहती, उसी प्रकार भगवान् के वचन घी के समान स्नेहपूर्ण और गुड़ के समान माधुर्यमण्डित होते हैं। वह श्रोताओं की मानसिक भूख को मिटाकर उन्हें अनिर्वचनीय तृप्ति प्रदान करते हैं।

(२०) अपरमर्मवेधित्व—भगवान् की करुणा अपार है। वे दया के सागर हैं। तीन लोक के समस्त प्राणियों के बन्धु, सखा, [illegible], पिता और नाथ हैं। प्राणीमात्र के सुख के लिए धर्म- [illegible] देते हैं अतएव उनकी वाणी में ऐसी कोई बात संभव ही [illegible] है, जिससे किसी के मर्म को पीड़ा हो। जो जगत् की पीड़ा बाधा को दूर करने के लिए तथा जीव मात्र की रक्षा के लिए [illegible] देते हैं, उनसे किसी को बाधा-पीड़ा नहीं हो सकती। [illegible] भगवान् की वाणी परमर्मवेधी नहीं होती।

(२१) प्रभु की वाणी मोक्ष रूप अर्थ को साधने वाली होती है और श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म से सम्बन्धित होती है।

(२२) परकीय निन्दा और आत्मप्रशंसा करना साधारण शिष्ट जनों के लिए भी उचित नहीं समझा जाता। ऐसी स्थिति में तीन लोक के नाथ की वाणी में यह दोष हो ही कैसे सकता है ? आत्मप्रशंसा करना प्रकारान्तर से अपनी हीनता प्रकट करना है क्योंकि जो अपने मुँह से अपने बड़प्पन की डींगे मारता है, वह विवेकशील जनों की दृष्टि में गिर जाता है। उसे लोग ओछा आदमी समझते हैं। उसमें कदाचित् गुणों की मात्रा होती है तो भी उनकी बेकद्री होने लगती है। आत्मप्रशंसा का महान् दोष उन गुणों को आच्छादित कर देता है। इसी प्रकार परनिन्दा करना ईर्षा, द्वेष, छिद्रान्वेषणवृत्ति आदि दोषों का परिचायक है। लौकिक शिष्ट एवं सभ्य जनों में भी यह दोष नहीं होते तो लोकोत्तर पुरुषों में तो हो ही कैसे सकते हैं ? नीतिकार कहते हैं—

श्वा वै भवति निन्दकः।

अर्थात् परनिन्दा करने वाला पुरुष निश्चय ही मरने के बाद श्वानयोनि में जन्म लेता है।

किसी ने कितनी सुन्दर बात कही है:—

असम्माने तपोवृद्धिः, सन्माना च तपः क्षयः।
पूजया पुण्यहानिः स्यान्निन्दया सद्गतिर्भवेत् ॥

साधारण लोग असन्मान पाकर व्यथित होते हैं और सन्मान मिलने पर फूले नहीं समाते। पूजा-प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर अपना अहोभाग्य मानते हैं और निन्दा सुन कर अतीव दुःख का अनुभव करते हैं। किन्तु विचारशील और धर्मनिष्ठ पुरुषों

की विचारणा कुछ भिन्न प्रकार की होती है। वही विचारणा उपर्युक्त श्लोक में शब्द बद्ध की गई है। यहां बतलाया गया है कि असन्मान से तप की वृद्धि होती है और सन्मान से तपस्या का क्षय होता है। पूजा-प्रतिष्ठा से पुण्य की हानि होती है तो निन्दा सहन कर लेने से सद्गति प्राप्त होती है।

सत्पुरुष वह है जो पर की निन्दा नहीं करता, किन्तु पर के द्वारा की गई अपनी निन्दा को शान्त और समभाव से सहन कर लेता है। अतएव जब साधक सन्त भी किसी की निन्दा और आत्मप्रशंसा से दूर रहते हैं तो जो सन्तों में शिरोमणि हैं. सन्तों के लिए भी परमपूजनीय और आराध्य हैं, जो अपनी साधना को परिसमाप्त करके परमात्मपद पर प्रतिष्ठित हो चुके हैं जिनकी आत्मा राग-द्वेष पर पूर्ण विजय प्राप्त करके वीतराग हो चुकी है, वे अरिहन्त भगवन्त किस प्रकार परनिन्दा और आत्मप्रशंसा की वाणी कहेंगे ? उनकी वाणी में यह दोष नहीं होता।

(२४) भगवान् की वाणी सब प्रकार के दोषों से रहित होने के कारण श्लाघ्य होती है। सुर, असुर, नर, नरेन्द्र सुरेन्द्र और असुरेन्द्र, सभी प्रभु की वाणी को मुक्त कण्ठ से श्लाघा करते हैं अतएव भगवान् की वाणी का एक गुण 'उपगतश्लाघत्व' भी है।

(२५) भगवान् की देशना वाणी में काल, कारक, वचन; लिंग आदि का विपर्यास रूप दोष नहीं होता।

(२६) भगवान् के उपदेश की शैली और भाषा इतनी मनोरम और सुसंबद्ध होती है कि श्रोतागण निरन्तर कुतूहलयुक्त बने रहते हैं।

(२७) अद्‌भुतता—भगवान् के वचन दीर्घकालीन साधना के परिपाक स्वरूप प्राप्त होने वाले अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन से परिपूर्ण होते हैं। उनकी वाणी से जो अर्थ प्रकट होता है, वह अर्थ अश्रुतपूर्व—पहले सुना हुआ नहीं—होने से श्रोताओं के चित्त में हर्ष एवं विस्मय उत्पन्न करता है।

(२८) भगवान् सर्वज्ञ को कुछ सोचने-विचारने की आवश्यकता नहीं होती, अतएव वे विलम्ब करके, एक-एक करके या अटक-अटक कर उपदेश न करते हुए धाराप्रवाह भाषण करते हैं।

(२९) प्रभु को विभ्रम, विक्षेप, रोष, भय आदि दोष स्पर्श तक नहीं कर सकते, अतएव उनकी वाणी में भी यह सब दोष नहीं होते।

(३०) प्रभु की वाणी ऐसी वस्तुओं को प्रकाशित करती है जो विविध प्रकार की होती हैं। अतएव उसमें विचित्रता होती है।

(३१) तीर्थंकर भगवन्त की वाणी साधारण जनों की वाणी से निराली होती है। उसे श्रवण करने वाले पुण्यशील श्रोताओं को विशिष्ट बोध प्राप्त होता है।

(३२) उस वाणी में वर्ण, पद और वाक्य सुसंबद्ध होते हुए भी पृथक्-पृथक् होते हैं।

(३३) भगवान् की वाणी असाधारण रूप से ओजपूर्ण होती है और श्रोतृवर्ग पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रहती।

(३४) अनन्तबली भगवान् उपदेश देते समय किंचित् भी थकावट अनुभव नहीं करते।

(३५) भगवान् जिस तत्त्व को समझाना चाहते हैं वह जब तक श्रोताओं की समझ में न आ जाय, तब तक बिना किसी व्यवधान के उसका प्रतिपादन करते हैं और श्रोता उस तत्त्व को बखूबी समझ जाते हैं।

इस प्रकार जिनकी वाणी में उत्तम से उत्तम गुण हैं और जिनकी वाणी भव्य जीवों को संसार-सागर से पार उतारने वाली है, उन दिव्य छटा से सम्पन्न भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम नमस्कार करना चाहिए।

इस अवसर्पिणी काल में भगवान् ऋषभदेवजी प्रथम तीर्थंकर हुए। उन्होंने 'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए' अर्थात् जगत् के समस्त जीवों की रक्षा रूप दया के लिए उपदेशामृत की वर्षा की। भगवान् का वह उपदेश गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में संकलित किया। उसमें तीसरा अंग ठाणांग (स्थानांग) है, जिसमें एक से प्रारम्भ करके दश संख्या वाले पदार्थों की प्ररूपणा की गई है। स्थानांगसूत्र शब्दों की अपेक्षा भी विशाल है, परन्तु अर्थ की अपेक्षा और प्रतिपाद्य विषयों की अपेक्षा तो और भी अधिक विशाल है। उसमें चारों अनुयोगों का समावेश है। अतएव उसका व्याख्यान करने के लिए बहुत लम्बा समय अपेक्षित है। अतः उसके चौथे स्थानक के आधार पर कतिपय ...चार आपके समक्ष रक्खे जा रहे हैं।

भगवान् ने ठाणांगसूत्र में चार प्रकार के विश्राम बतलाये हैं। कोई मनुष्य सिर पर बोझ लाद कर जब एक गांव से दूसरे गांव जाता है तो उसे चार प्रकार से विश्राम मिलता है। यथा—

(१) मनुष्य जब अपने एक कन्धे पर रक्खे हुए बोझ को दूसरे कन्धे पर लेता है, तब उसे विश्राम मिलता है।

(२) जब वह बोझ नीचे रख कर लघुशंका आदि की निवृत्ति करता है, तब विश्राम मिलता है।

(३) दिन व्यतीत हो जाने पर और रात्रि का आगमन होने पर जब वह किसी स्थान में रात-वासा करता है, तब विश्राम पाता है।

(४) जब अपनी मंजिल पर पहुँच जाता है और बोझ उतार कर हल्का होता है, तब उसे विश्राम मिलता है।

यह चार द्रव्य-विश्राम हैं। ध्यान देने से प्रतीत होगा कि इनमें पूर्व-पूर्व के विश्राम की अपेक्षा आगे-आगे के विश्राम अधिक-अधिक शान्ति प्रदान करने वाले हैं। प्रारम्भ के तीन विश्राम भी कुछ शान्ति देते हैं, किन्तु वह थोड़ी और अल्प ही दे सकते हैं। असली शान्ति तो पथिक को तभी मिलती है जब वह अपने ठिकाने पर पहुँच जाता है और स्थायी रूप से अपने ऊपर लदा बोझ उतार कर रख देता है।

इसी प्रकार भावविश्राम भी चार प्रकार के हैं। यह संसारी प्राणी आठ कर्मों का भारी बोझ लादे संसार में भटक रहा है। वह शान्ति चाहता है मगर जब तक कर्मों का भार हल्का न हो जाय तब तक उसे शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। कर्मों का भार किस प्रकार हल्का हो सकता है, इस विषय का निरूपण शास्त्रों में विस्तार के साथ किया गया है। उस सबको बतलाने का अभी

समय नहीं है। यह सिर्फ यहां बतलाना है कि कर्म भाराक्रान्त पुरुष के लिए पहला विश्राम यह है कि वह बारह व्रतों को अंगीकार करे। बारह व्रतों का शास्त्रोक्त पद्धति से पालन करने वाले व्यक्ति को संतापमय संसार में भी किंचित् शान्ति प्राप्त होती है। उसकी अपरिमित लालसाएँ जब सीमित हो जाती हैं तो अन्तरात्मा में एक प्रकार का आनन्द-रस जागृत होता है और वह प्राणी साता का अनुभव करता है।

बारह व्रतों में पहला स्थान अहिंसा को दिया गया है, क्योंकि अहिंसाव्रत सब व्रतों में महान् और प्रधान है। शेष व्रत अहिंसा की ही उत्कृष्ट आराधना के लिए हैं।

दूसरा व्रत सत्य है। जो मनुष्य आठ कर्मों के भार से हल्का होना चाहता है और विश्राम प्राप्त करना चाहता है, उसे सच्चे हृदय से असत्य का त्याग करना चाहिए।

जो वस्तु जैसी है, जैसी समझी है, उसे निष्कपट भाव से उसी रूप में प्रकट करना, राग-द्वेष से प्रेरित होकर उसे अन्यथा रूप न देना, सत्य है। मगर सत्य की व्याख्या इतने में ही पूर्ण नहीं हो जाती। तत्त्वार्थ-सूत्र में श्रीउमास्वाति महाराज ने कहा है—

असदभिधानमनृतम्।

अर्थात् असत् कथन अनृत (असत्य-मिथ्या भाषण) कहलाता है यहां 'असत्' शब्द में बहुत व्यापक भाव छिपा है। अवास्तविक भी असत् कहलाता है और अप्रशस्त भी असत् कहलाता है। अतएव जो बात अवास्तविक है, तथ्यरूप नहीं है,

उसका कथन करना असत्य है और साथ ही जो तथ्य होकर भी पथ्य न हो, प्रशस्त न हो, बल्कि अहितकारी हो, पीड़ा जनक हो, अनर्थकर हो, वह भी असत्य ही है।

सत्यव्रत अहिंसाव्रत की पुष्टि के लिए है, अतएव अहिंसा को केन्द्र में स्थापित करके सत्य का विचार करने से ही उसका स्वरूप ठीक तरह समझ में आएगा, अन्यथा नहीं आ सकता। अभिप्राय यह कि जो वचन अहिंसा का विघातक है, वह चाहे ऊपर से सत्य प्रतीत होता हो तो भी सत्य नहीं कहला सकता। वह असत्य ही है।

सत्य भाषण का व्रत अंगीकार करते ही यह जीव कर्म रूपी भार से हल्का होने लगता है और इसे विश्रान्ति का, शान्ति का आभास होने लगता है।

संसार में अनेक मत, पंथ और सम्प्रदाय हैं। उनकी अपनी २ मान्यताएँ हैं। सबके दृष्टिकोणों में थोड़ा या बहुत अन्तर रहता है। मगर सत्य भाषण करना धर्म और असत्य भाषण करना अधर्म है, इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। सभी धर्मशास्त्र असत्य को त्याज्य कहते हैं। असत्य का प्रयोग समान रूप से सभी शास्त्रों में गर्हित माना गया है। दुनियां में एक भी ऐसा पंथ या मत नहीं है, जिसने असत्य भाषण को धर्म कहा हो अथवा अधर्म न कहा हो। इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि असत्य कितना बड़ा पाप है।

शास्त्रों की बात रहने दीजिए और लोक व्यवहार को देखिए। आपको स्पष्ट प्रतीत होगा कि सत्य सब को प्रिय और

असत्य अप्रिय है। जो लोग लोभ से भय से, स्नेह से या आशा से प्रेरित होकर असत्य का प्रयोग करते हैं. वे भी असत्य को अच्छा नहीं समझते। उनके अन्तःकरण को टटोलो तो प्रतीत होगा कि वे असत्य से घृणा करते हैं और सत्य के प्रति प्रीति और भक्ति रखते हैं।

स्पष्ट है कि सत्य एक सर्वमान्य धर्म है और सभी लोग उसी का अनुसरण करना चाहते हैं। मगर कई कारणों से उत्पन्न होने वाली दुर्बलताएँ मनुष्य को असत्य का आचरण करने के लिए बाधित करती हैं। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि मनुष्य जब तक असत्य का परित्याग नहीं करता तब तक उसके सिर पर कर्मों का भार लदा ही रहता है। वह कर्म भार से हल्का नहीं हो सकता। यही नहीं, उसका भार निरन्तर गुरुतर ही होता जाता है अतएव मनुष्य का यही कर्त्तव्य है कि वह असत्याचरण के लिए प्रेरित करने वाली अपनी आन्तरिक दुर्बलताओं को दूर करने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्नशील हो।

असत्य का सम्पूर्ण रूप में परित्याग करने से ही जीवन पवित्र, उज्ज्वल और उन्नत बनता है; तथापि प्रमाद अथवा कायरता के कारण पूर्णरूपेण असत्य का त्याग करना सम्भव न हो तो कम से कम स्थूल (बड़ा) असत्य का तो हर हालत में त्याग करना चाहिए।

असत्य दो प्रकार का है—स्थूल और सूक्ष्म। जो झूठ लोक में भी झूठ समझा जाता है, जिस झूठ के लिए शासन ने दण्ड का विधान किया है, जिसके कारण अनर्थ होता है, किसी की कोई बड़ी हानि होती है, अप्रतिष्ठा होती है, जिसके कारण

किसी निरपराध को अपराधी ठहराया जाता है, जिस असत्य से देश का, समाज का, धर्म का और परिवार का अपयश होता है और जो किसी को सन्मार्ग से विचलित करता है, वह असत्य स्थूल असत्य की कोटि में गिना गया है। सूक्ष्म असत्य का त्यागी साधारण हँसी मजाक में या विनोद में भी असत्य का प्रयोग नहीं करता। वह ऐसे किसी भी वचन का प्रयोग नहीं करता जिसमें असत्य लेशमात्र भी निहित हो। किन्तु प्रत्येक मनुष्य यदि इतनी सूक्ष्मता में उतर कर असत्य का परित्याग नहीं कर सकता, तो भी स्थूल असत्य का त्याग करना तो सभी के लिए सम्भव है।

मुक्तात्मा है, मुक्ति है, फिर भी अगर कोई कहता है कि मुक्तात्मा-परमात्मा नहीं हैं, तो वह स्थूल असत्य का सेवन करता है। आजकल बहुत लोग ऐसे मिलेंगे जो स्वर्ग, नरक और परलोक के अस्तित्व से इंकार करते हैं। उनका कहना है कि समस्त विश्व यही है जिससे हम परिचित हैं। इससे आगे कोई दूसरा जगत् नहीं है। ऐसा कहना भी स्थूल असत्य है। इस प्रकार अस्ति को नास्ति कहने वाले घोर असत्य के भागी होते हैं। इसी प्रकार जो वस्तु नहीं है, उसका अस्तित्व कहना भी स्थूल असत्य है। उदाहरणार्थ—यह जगत् अनादिकाल से चला आ रहा है। इसका कोई कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। फिर भी यह कहना कि जैसे कुंभार मिट्टी के बर्त्तन बनाता है, वैसे ही ईश्वर जगत् की रचना करता है, यह भी स्थूल असत्य है।

किसी भी राष्ट्र पर पूर्ण अधिकार करने के लिए दो बातों की नितान्त आवश्यकता होती है। वह हैं उस राष्ट्र की

स्वीकार कर लेता है। यह भयजन्य झूठ है। जब उसके घर की तलाशी ली जाती है और माल बरामद नहीं होता तो मार पड़ती है और कभी-कभी सजा भी भुगतनी पड़ती है। किन्तु थोड़े समय के लिए, मार से बचने के लिए वह झूठ बोल जाता है।

इसी प्रकार हास्य-विनोद में भी झूठ वचनों का प्रयोग किया जाता है। शतरंज खेलते समय कहा जाता है कि यह हाथी मारा, यह घोड़ा मारा आदि। हँसी-मजाक के झूठ को लोग झूठ नहीं समझते किन्तु न समझने के ही कारण कोई पाप से नहीं बच सकता। बाद में पाप के उस बोझ को सहन करना कठिन हो जाता है।

कई लोग सत्य के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण ऐसे वचनों का प्रयोग कर देते हैं जिन्हें वे सत्य मानते हैं, परन्तु वे अनर्थकारी होते हैं और जिनके कारण दूसरों के प्राणों का घात हो जाता है। ऐसा सत्य वास्तव में सत्य नहीं, असत्य है, जो हिंसाकारी होता है। वही सत्य प्रशस्त माना गया है जो हितकर हो, अनर्थकारी न हो और जिसके कारण किसी प्राणी के प्राणों पर विपत्ति न आवे।

मर्मवेधी वचन कहना भी असत्य में ही शामिल है। जिस वचन के कहने से किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचे, वैसा वचन उच्चारण करना उचित नहीं है। मर्मभेदी वचन कलेजे में तीर के समान चुभते हैं और समय-समय पर कसक पैदा करते हैं। मर्म प्रकाशित करने से अथवा मार्मिक शब्द कहने से महान् अनर्थ हो जाता है। कई बार तो मर्मवेधी शब्द सुन कर लोग कुएँ में गिर कर मर जाते हैं। कोई फांसी खाकर तो कोई रेल

आप नरक आदि दुर्गतियों से बचना चाहते हैं तो ऐसे स्थूल असत्य के सेवन का सदा के लिए त्याग कीजिए।

कितने खेद की बात है कि यह जीव सत्य की उपादेयता और असत्य की हेयता को मन ही मन अनुभव करता हुआ भी अनेक कारणों के वशीभूत होकर मिथ्या भाषण करता है। कभी यह जीव लोभ के वशीभूत हो कर झूठ बोलता है। उदाहरणार्थ–कोई व्यक्ति कपड़े की दुकान करता है और उसका माल प्रतिष्ठित घरानों में भी जाता है। कोई ग्राहक आकर उससे पूछता है-अमुक कपड़े का क्या भाव है ? तब कपड़ा वाला कहता है–'मेरी दुकान में जो माल है, वह बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े शहरों में भी नहीं मिल सकता है। और इस प्रकार कह कर वह दुगुना–चौगुना भाव बतला देता है। यह लोभ के कारण झूठ बोलना कहलाता है।

कभी-कभी क्रोधावेश में भी झूठ बोला जाता है। जब दो आदमियों में लड़ाई-झगड़ा होता है और वे असंस्कारी होते हैं तो उनमें से एक कहता है-चल हट, गधे के बच्चे ! कोई 'गधा का मूत' और कोई 'भंगी का मूत' कह कर अपनी असभ्यता का प्रदर्शन करता है। यह कितना झूठ है।

भय के कारण भी असत्य भाषण किया जाता है। कोई सिपाही चोर की आशंका करके किसी ऐसे व्यक्ति को पकड़ ले जो वास्तव में चोर न हो और उसे मारपीट का भय दिखला कर चोरी कबूल करवाना चाहता है, तो वह डर का मारा चोरी करना

स्वीकार कर लेता है। यह भयजन्य झूठ है। जब उसके घर की तलाशी ली जाती है और माल बरामद नहीं होता तो मार पड़ती है और कभी-कभी सजा भी भुगतनी पड़ती है। किन्तु थोड़े समय के लिए, मार से बचने के लिए वह झूठ बोल जाता है।

इसी प्रकार हास्य-विनोद में भी झूठ वचनों का प्रयोग किया जाता है। शतरंज खेलते समय कहा जाता है कि यह हाथी मारा, यह घोड़ा मारा आदि। हँसी-मजाक के झूठ को लोग झूठ नहीं समझते किन्तु न समझने के ही कारण कोई पाप से नहीं बच सकता। बाद में पाप के उस बोझ को सहन करना कठिन हो जाता है।

कई लोग सत्य के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण ऐसे वचनों का प्रयोग कर देते हैं जिन्हें वे सत्य मानते हैं, परन्तु वे अनर्थकारी होते हैं और जिनके कारण दूसरों के प्राणों का घात हो जाता है। ऐसा सत्य वास्तव में सत्य नहीं, असत्य है, जो हिंसाकारी होता है। वही सत्य प्रशस्त माना गया है जो हितकर हो, अनर्थकारी न हो और जिसके कारण किसी प्राणी के प्राणों पर विपत्ति न आवे।

मर्मवेधी वचन कहना भी असत्य में ही शामिल है। जिस वचन के कहने से किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचे, वैसा वचन उच्चारण करना उचित नहीं है। मर्मभेदी वचन कलेजे में तीर के समान चुभते हैं और समय-समय पर कसक पैदा करते हैं। मर्म प्रकाशित करने से अथवा मार्मिक शब्द कहने से महान् अनर्थ हो जाता है। कई बार तो मर्मवेधी शब्द सुन कर लोग कुएँ में गिर कर मर जाते हैं। कोई फांसी खाकर तो कोई रेल

के नीचे आकर प्राण गँवा देते हैं। अतएव इस बात की अत्यन्त सावधानी रखनी चाहिए कि आपके मुख से ऐसा कोई शब्द न निकले जो इस प्रकार के अनर्थ का कारण बन जाए।

विवेकनिष्ठ पुरुष सदैव अपने विवेक की कसौटी पर कस कर ही वचनों का प्रयोग करते हैं। कहा है—

मत कोई भाखो मरम पराया। मरम २ ॥ टेर ॥
मरम कहे से अनरथ होता,
जहर खाय कोई प्राण गमाया ॥ १ ॥
शस्त्र घाव तो मिट जाता है,
मर्म घाव नहीं मिले मिलाया ॥ २ ॥
रात-दिवस सत्य सम खटके,
याद होत ही धूजे काया ॥ ३ ॥
क्रोध बीच में आय बहू ने,
सासू का जब मर्म सुनाया ॥ ४ ॥
सासु सुसर पति पत्नी बच्चा,
फांसी खाय परलोक सिधाया ॥ ५ ॥
चौथमल कहे मत मर्म प्रकाशो,
नहीं तो लेंगे फिर बदला सवाया ॥ ६ ॥

—

किसी-किसी को मर्म प्रकाशित होने से इतना उग्र क्षोभ होता है कि वह पागल तक हो जाता है। मार्मिक शब्द हृदय में चुभते ही रहते हैं और वे प्रतिहिंसा की ज्वाला को भड़काते हैं।

उदयपुर के महाराणा का विवाह बूंदी नरेश के यहां हुआ था। एक बार उदयपुर में साले-बहिनोई चौपड़ खेल रहे थे। सालाजी के हाथ में मेंहदी लगी हुई थी। मेंहदी देखकर अचानक महाराणा के मुँह से निकल पड़ा—'यह हाथ तो लुगाइयों के हैं।'

महाराणा का यह वाक्य बूंदीनरेश के कलेजे में तीर के समान चुभ गया। वह सोचने लगे—इन्हीं हाथों से महाराणा को मज़ा न चखाया तो बात ही क्या! ऐसा किये बिना मेरी प्रतिहिंसा शान्त नहीं होगी।

जब वह बूंदी पहुँचे तो महाराणा को लिख भेजा—यहां शेर बहुत हैं और शिकार करने में बड़ा मज़ा आएगा। आप अवश्य पधारें।

महाराणा को शेर के शिकार का बहुत शौक था। बूंदी का निमन्त्रण पाकर उन्होंने बूंदी के लिए प्रस्थान किया। महाराणा के पहुँचने पर शिकार खेलने का प्रबंध किया गया। साले बहिनोई दोनों शिकार करने के लिए शेरों की गुफा के नज़दीक पहुँचे। साथ के कर्मचारी एक जगह रुक गये और वे दोनों शिकार की तलाश में काफी आगे बढ़ गये।

सालाजी ने मौका देखकर और मर्मवेधी उन शब्दों को याद करके बहिनोईजी पर इस जोर से भाला फैंका कि महाराणा

ढ़ीं ढेर हो गये ! सालाजी बोले-देखो लुगाई के हाथों की करामात, जिनके प्रति आपने घृणा प्रकट की थी ! इस प्रकार साले साहब ने मार्मिक शब्दों का बदला ले लिया।

अभिप्राय यह है कि मर्मवेधी शब्द कहने में तो कोई कठिनाई नहीं होती, परन्तु उनका प्रतिफल अत्यन्त उग्र और कष्ट कारक होता है।

अगर आप अपनी जबान पर कब्जा रखेंगे तो किसी प्रकार के अनर्थ की संभावना नहीं रहेगी। इस दुनियां में जो भीषण और लोमहर्षक काण्ड होते हैं, उनमें से अधिकांश का कारण जीभ पर नियंत्र न होना है। यह निगोड़ी जबान ऐसी है कि अच्छे २ मेवा-मिष्टान्न चखती है मगर बदले में जहर उगलती है, जिससे सात पीढ़ियों का नाम तक बदनाम हो जाता है। अतएव अपनी जिह्वा को वश में रक्खो। परिमित और मधुर भाषा बोलना ही हितकर है। याद रक्खो, मर्मवेधी शब्दों का प्रयोग करना नहीं त्यागोगे तो अपने जीवन को दुःखमय बना लोगे और ऐसा भी अवसर आ सकता है कि अकाल में ही प्राणों से हाथ धोना पड़े।

किसी गांव में एक सेठ रहता था। उसकी स्त्री दुराचारिणी थी, अतएव वह सेठ से प्रेम नहीं करती थी। वह एक बार मैके गई और वहां अपने यार दोस्तों से प्रेम करने लगी। सेठ ने सोचा-बहुत दिन हो गये हैं, जाकर पत्नी को ले आऊँ।

सेठ सुसराल पहुंचा और कुछ दिन रहकर स्त्री के साथ रवाना हुआ। रास्ते में एक कुआ आया। वहां वह दोनों पानी



चौर्य-परिहार



स्तुतिः-

गम्भीरताररवपूरित दिग्विभाग-
स्त्रैलोक्य लोक शुभ संगमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराज जय घोषण घोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

हे जिनेन्द्र ! हे ऋषभनाथ प्रभो ! जब आप विहार करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर पधारते हैं तब देवगण आकाश में दुन्दुभि बजाते हैं। देवदुन्दुभि का वह निर्घोष अतिशय

गम्भीर होता है। उसके तार निनाद से समस्त दिशाएँ व्याप्त हो जाती हैं। वह दुन्दुभिनाद तीन लोक के समस्त प्राणियों को आपके शुभ समागम की सूचना देता है और धर्मचक्रवर्त्ती आपकी विजयघोषणा करता है। प्रभो ! वह देवदुंदुभि आपके अतिशय उज्ज्वल यश को प्रकट करता है।

भाइयों ! देवों के द्वारा दुंदुभि बजाये जाने से प्राणी सावचेत हो जाते है। उसके द्वारा यह सूचित किया जाता है कि तीन लोक के नाथ भगवान् तीर्थंकर का आगमन हो गया है, अतः भव्यजन दर्शनार्थ और धर्मामृत का पान करने के लिए प्रयाण करें।

आजकल देखा जाता है कि जिस नगर में कोई राष्ट्रीय नेता अथवा उच्चकोटि का विद्वान् आता है तो उसके दिल के जज्बात को सर्वसाधारण सुन सकें, इस उद्देश्य से उत्साही कार्यकर्त्ता ऐलान करा देते हैं। सांसारिक झगड़ों में फंसे हुए व्यक्ति की बात सुनने के लिए भी जब इस कदर इन्तजाम हो सकता है, तब तीन लोक के नाथ महाप्रभु तीर्थंकर भगवान् के आगमन की सूचना देने के लिए अगर देवता दुन्दुभि बजाते हैं तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? देवदुन्दुभि सूचना देती है – ऐ जगत् के जीवों ! लोक के नाथ पधार गये हैं। धर्म के प्रकाशक प्रभु का पदार्पण हो गया है। अपना कल्याण करना हो तो कर लो। भगवान् धर्म की लोकोत्तर गंगा प्रवाहित करेंगे, जिसे उसमें अवगाहन करना हो, कर ले और अपनी जन्म-जन्मान्तर की मलीनता धो ले, अपने पापों का प्रक्षालन कर ले, अपने आपको शुचि और निर्मल बना ले। भगवान् लोकोत्तर धर्म के

जहाज है। जिस संसार-सागर से पार उतरना हो, वह इस जहाज का आश्रय ले। प्रभु का पावन प्रवचन सर्वोत्कृष्ट सिद्धि प्रदान करने वाला है। समस्त पापों और संतापों को दूर करने वाला है। भगवान् के वचनामृत का पान करने से प्राणी अजर-अमर पद प्राप्त करता है और सदा के लिए जन्म, जरा और मरण के चक्कर से छुटकारा पा लेता है।

देवदुन्दुभि का इस आशय का निर्घोष सुनकर हजारों नर-नारी समुत्सुक भाव से भगवान् का दर्शन करने, उपासना करने और उनके मुखारविन्द से धर्म का उपदेश सुनने के लिए एकत्र हो जाते हैं। आखिर ऐसा क्यों न हो? सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् जैसा पथप्रदर्शक मिल जाय तो कौन उससे लाभ नहीं उठाना चाहेगा? अभव्य जीवों की बात रहने दीजिए, कोई भी भाग्यशाली भव्य प्राणी ऐसे असाधारण अवसर को नहीं गँवा सकता। वह अवसर जन्म-जन्म के प्रकृष्ट पुण्य के प्रबल परिपाक से ही प्राप्त होता है।

ऐसे परमवीतराग भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम नमस्कार करना चाहिए।

कल बतलाया गया था कि कर्म रूप वजन को हल्का करने के लिए जीव को पापों का त्याग करके व्रतों का आचरण करना चाहिए। कल सत्यव्रत पर प्रकाश डाला गया था। आज तीसरे व्रत अचौर्य के सम्बन्ध में कुछ बातें कहनी हैं।

यदि कोई मनुष्य शुद्ध भावना से अचौर्यव्रत को अंगीकार कर ले और उसका विधिवत् पालन करे तो कितने ही पापों को समूल नष्ट करके विश्राम पाने का हकदार हो जाता है।

अचौर्यव्रत दो प्रकार का है—स्थूल अदत्तादानविरमण और सूक्ष्म अदत्तादानविरमण। स्थूल अदत्तादान का त्याग करने वाले के लिए सूक्ष्म अदत्तादान का त्याग करना अनिवार्य नहीं है, मगर सूक्ष्म अदत्तादान के त्यागी के लिए स्थूल अदत्तादान का त्याग करना अनिवार्य होता हैं। यद्यपि अदत्तादान मात्र त्याज्य है, फिर चाहे वह स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, तथापि त्याग करने वाले के सामर्थ्य के अनुसार उसके दो विभाग कर दिये गये हैं। सम्पूर्ण अदत्तादान का त्याग सन्त-महात्मा ही कर सकते हैं, गृहस्थ में इतनी योग्यता अथवा क्षमता का विकास नहीं होता। उसकी परिस्थितियां उसे स्थूल अदत्तादान से अधिक त्याग करने की सुविधा प्रदान नहीं करतीं।

गृहस्थ यदि अचौर्यव्रत को, अपनी मर्यादा के अनुसार ग्रहण करके, पालन करने के लिए कटिबद्ध हो जाय तो वह उसका भलीभांति पालन करने में समर्थ हो सकता है। हां, आत्मविश्वास होना चाहिए और साथ ही आत्मकल्याण की ओर झुकाव हो जाना चाहिए। जिस गृहस्थ में अध्यात्मभाव जागृत हो चुका है, जो मोक्षमार्ग पर चलने के लिए उत्सुक है, जो अपनी वृत्तियों पर संयम रखने के लिए उद्यत है, जिसे वीतराग की वाणी पर निश्चल श्रद्धा उत्पन्न हो चुकी है, वह अवश्य ही स्थूल रूप से अचौर्यव्रत का अंगीकार और परिपालन कर सकता है।

जिस वस्तु का जो स्वामी है, उसकी आज्ञा या इच्छा के विरुद्ध, उसकी किसी वस्तु को ग्रहण करना, अदत्तादान है अदत्तादान या चोरी अतिशय मलीन कार्य है। असत्य की भांति यह

भी सर्वविगर्हित कर्म है-पाप है। इस मलीनता को अपने हृदय में, जो परमात्मा का पावन मन्दिर है, स्थान देना हृदय मन्दिर को अपावन या अस्पृश्य बनाता है। अदत्तादान का फल अत्यन्त भयंकर होता है। कहा है—

दौर्भाग्यं प्रेष्यतां दास्यमंगच्छेदं दरिद्रताम्।
अदत्तात्तफलं ज्ञात्वा, स्थूलस्तेयं विवर्जयेत्॥

इस श्लोक में जो फल बतलाया है, वह स्थूल अदत्तादान का फल है। आचार्य कहते हैं-स्थूल अदत्तादान का पाप करने वालों को आगामी काल में दुर्भाग्य की प्राप्ति होती है। वे मर कर जब अगले भव में कहीं जन्म लेते हैं तो उन्हें दूसरों का सेवक बनना पड़ता है या दासता करनी पड़ती है। चोरी करने वाला जब रंगे हाथों पकड़ा जाता है तो उसके अंगों का छेदन किया जाता है। कदाचित् न पकड़ा जाय तो भी वह सदैव दरिद्रतामय जीवन ही यापन करता है।

क्या आपने सुना है कि कोई चोर चोरी करके ही लखपति या करोडपति बन गया है? चोर सदैव दीन, दुखी और दरिद्र ही बना रहता है। चोरी का कितना अनिष्ट फल होता है, इस बात को समझाने के लिए किसी शास्त्र के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। वह तो आप प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं।

चौर्य कर्म करने वाला यद्यपि भरसक प्रयत्न करता है कि उसकी पोल न खुल जाय। लोग जान न लें कि यह चोर है। मगर उसका वह प्रयास अन्त तक सफल नहीं हो पाता वास्तविकता

सामने आये बिना नहीं रहती। लोगों पर चोर का चौर्यकर्म प्रकट हो ही जाता है और जब लोग समझ जाते हैं कि अमुक मनुष्य चोर है, तो उसको अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। चारों ओर से उस पर घृणा की वर्षा होती है। क्षण भर के लिए कोई उसका विश्वास नहीं करता—

कातराणां यथा धैर्यं, वन्ध्यानां सन्ततिर्यथा।
न विश्वासस्तथा लोके, नृणामदत्तहारिणाम् ॥

कायर पुरुषों में जैसे धैर्य नहीं होता और जैसे बन्ध्या स्त्री को सन्तान नहीं होती, उसी प्रकार अदत्त वस्तु को हरण करने वालों का लोक में विश्वास नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि चौर्यकर्म करने वाले को इस जन्म में भी और आगामी जन्मों में भी अत्यन्त अशुभ, अनिष्ट, और अकान्त फल भोगना पड़ता है। सच तो यह है कि उसका मानव जीवन एक प्रकार से नारकीय जीवन बन जाता है।

अतएव प्रत्येक सभ्य, शिष्ट और विवेकवान् पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह किसी की वस्तु को कभी चोरी की नीयत से न उठावे। जैनशास्त्रों में चोरी का दायरा बहुत बड़ा बतलाया गया है। चोर को सहायता देना भी चोरी है और चोर का चुराया हुआ माल खरीदना भी चोरी है चोरी के त्यागी को इन बातों का भी त्याग करना चाहिए। इन्हें त्यागे बिना चौर्य त्याग का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता और न चोरी के कुफल से बचाव ही हो सकता है

जो अचौर्यव्रत का पालन करता है, वह इस लोक में अत्यन्त प्रशस्त होता हैं। उसे यश की प्राप्ति होती है। प्रतिष्ठा उसके चरण चूमती है। मनुष्यों की तो बात ही क्या है, देवता भी उसके चरणों की पूजा करते हैं। वह सर्वत्र आदर-सत्कार पाता है और लोग उस पर पूर्ण विश्वास करते हैं। वह कभी और कहीं भी अविश्वास की दृष्टि से नहीं देखा जाता।

आज मुनिराज धन्य, धान्य, जवाहिरात आदि से भरे घर में भी वेरोकटोक चले जाते हैं। सभी लोग उनका आदर-सत्कार करते हैं और इच्छित भोजनादिक प्रदान करते हैं। इसका एक मात्र कारण यही है कि वे समझते हैं कि जैन साधु अपरिग्रही होने के कारण कभी चोरी नहीं करते। वास्तव में दुनिया का प्रत्येक कार्य विश्वास से चलता है।

भगवान् ने फर्माया है कि—हे भव्य जीवों! अगर तुम्हें दांत कुरेदने के लिए एक तिनके की आवश्यकता है तो वह भी बिना मालिक की इजाजत के न लो।

हम एक गांव में गये। वहां के ठाकुर साहब उसी गांव में रहते थे। व्याख्यान सुनने के लिए वे भी आए। हमने व्याख्यान में कहा—बिना आज्ञा के एक तिनका लेना भी भगवान् ने चोरी में शामिल किया है। यही नहीं, कोई व्यक्ति कान में इत्र का फोआ लगा कर आया है और पास में बैठा दूसरा व्यक्ति, उसकी आज्ञा के बिना इत्र की खुशबू लेता है; तो वह भी चोरी में शामिल है। आत्मा ने शरीर को अपना समझ रक्खा है तो यह भी चोरी है। पराई स्त्रियों को ताकना भी चोरी है। बाग में से फूल तोड़ लेना भी चोरी के अन्तर्गत है।

उपर्युक्त बारीक बातें सुन कर ठाकुर साहब ने कहा—मैं अभी तक घोर अज्ञानान्धकार में था, किन्तु आज आपने मेरा सारा भ्रम मिटा दिया।

मगर मैं समझता हूँ कि इस बारीकी का श्रेय मुझे नहीं, उन सर्वज्ञ प्रभु को है, जिन्होंने कोई बात अछूती नहीं रक्खी।

साधु गोचरी के लिए गृहस्थों के घर जाते हैं, मगर उनकी आज्ञा होने पर भी अपने हाथ से भोजन नहीं लेते, क्योंकि वे उनके मन की बात जानते नहीं। क्या मालूम वह एक रोटी देना चाहता है या चार रोटियां? अतः गृहस्थ के हाथ से ही वे आहार लेते हैं।

इसके विपरीत, चोरी करने वालों की कोई इज्जत नहीं करता। उनकी कोई पैठ नहीं होती, प्रतिष्ठा नहीं होती। चोरी करने वाला जिस गली में से निकलता है, लोग उंगली के इशारे से उसे बतलाते हैं और कहते हैं-सावधान रहना इस उचक्के से! कहीं मौका पाकर घर में न घुस जाय! वह जगह-जगह दुत्कारा जाता है। खाने तक को मुँहताज रहता है। जब पकड़ में आ जाता हैं तो डंडों की मार खाता है और कारागार में ठूँस दिया जाता है। इस प्रकार लालच में फँस कर लोग चोरी तो कर लेते हैं, मगर बाद में बहुत फजीता होता है। इसलिए कहा है-

मत कीजो चोरी कहे ज्ञाता रे ॥ टेर ॥
चोरी जो करते परद्रव्य हरते,
कोई जेल के बीच मर जाता रे ॥ १ ॥

लेने में चोरी देने में चोरी,
कोई गुपचुप से माल को खाता रे ॥ २ ॥
जेबों को कतरे, थैलियों को उड़ावे,
जाल का कागज बनाता रे ॥ ३ ॥
चोर पुरुष कभी सुख से न रहवे,
छुप के दिन को बिताता रे ॥ ४ ॥
चौथमल कहे चोरी को छोड़ो,
जो तुम चाहो कुशलता रे ॥ ५ ॥

भाइयों ! चोरी के पाप की बदौलत होने वाले कष्टों को कहां तक गिनाया जाय ? सैकड़ों आदमी आज भी ऐसे मिलेंगे जो चोरी के कारण जेलखाने में पड़े-पड़े सड़ रहे हैं। और अपने अनमोल जीवन को मिट्टी में मिला रहे हैं। कितने ही ऐसे भी मिलेंगे जो चोरी करने के कारण ऐसे भयभीत रहते हैं कि उल्लुओं की तरह दिन भर छिपे रहते हैं। उनका हृदय निरन्तर कांपता रहता है कि कहीं मेरा पाप प्रकट न हो जाय। ऐसी अवस्था में उन्हें चैन कहां ? निराकुलता कहां ? और जहां निरन्तर व्याकुलता बनी रहती है, वहां सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ?

यह बात तो चोरी करने वालों के सम्बन्ध में हुई। मगर जिस गरीब का माल चुराया जाता है, उसकी आत्मा को कितनी

व्यथा और पीड़ा होती है, यह बात तो कोई भुक्तभोगी ही जान सकता है। उसके दिल को जो गहरी ठेस पहुँचती है, वास्तव में उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। पेट पर पट्टी बांध कर उस बेचारे ने कुछ रुपया इकट्ठा किया था यह सोच कर कि समय पर काम आएगा, मगर दुष्ट चोर ने उसके तमाम मंसूबों पर पानी फेर दिया। उसने बेचारे का द्रव्य क्या चुराया प्राण ही हरण कर लिये। उसकी वेदना का क्या पार ? वह गरीब इस प्रकार द्रव्य के चले जाने से शोकमग्न हो जाता है। कभी-कभी पागल हो जाता है अथवा निराश और दुखी होकर आत्मघात कर लेता है।

भाइयों ! अपने दिमाग से यह बात एकदम निकाल दो कि चोरी करने से कोई धनवान् हो सकता है। चोरी दरिद्रता का कारण है। थोड़े दिनों तक कदाचित् चोर मौज उड़ा भी ले तो भी निश्चित समझो कि उसका भविष्य घोर अंधकारमय है। इसी जीवन में उसकी दयनीय दशा होती है। उसको कहीं नौकरी भी नहीं मिलती। उसके हाथ-पैर काट दिये जाते हैं। वह मरता है तो किसी अत्यन्त दरिद्र के यहां जन्म लेता है अथवा नरक की भयावनी यातनाएँ सहन करता है।

प्रत्येक माता-पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपने बच्चों को प्रारम्भ से ही ऐसी शिक्षा दें कि वे चोरी के दुर्व्यसन में न फँसें। चोरी करने वाले बच्चों की संगति से उन्हें बचाना भी अत्यावश्यक है। बचपन में जैसे संस्कार पड़ जाते हैं, वे आजीवन बने रहते हैं और उन्हीं के अनुसार जीवन का निर्माण होता है। अतएव बालकों पर बारीक निगाह रखना आवश्यक है। बालक

के जीवन में सुसंस्कार के बीजों का आरोपण कर देना माता-पिता का आवश्यक कर्त्तव्य है।

अत्यन्त खेद की बात है कि कई अविवेकी मां-बाप एक बार चोरी करने पर बालक को प्रोत्साहन देते हैं और उसे पुनः चोरी करने के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रेरित करते हैं। वे अल्प काल के लिए सुखानुभव भले ही कर लें, किन्तु अपने बालक के जीवन पर कुठाराघात करते हैं। उसके जीवन को नष्ट-भ्रष्ट कर देते हैं। ऐसे माता-पिता अपने बालक के सब से बड़े शत्रु हैं।

आमों का मौसिम चल रहा था। बाजार में कूंजड़े आम बेच रहे थे। तरह-तरह के आम बिक रहे थे और कूंजड़े अपने अपने आमों की तारीफ में शोरगुल मचाये हुए थे। बाजार में होकर एक बालक निकला। वह आम की टोकरियों की ओर ललचाई नजरों से देखता जा रहा था। आम खरीदने को उसके पास एक भी पैसा नहीं था।

बालक अपने लालच को रोक नहीं सका। उसने किसी प्रकार चालाकी करके चार आम चुरा लिये और घर जाकर अपनी माता को दे दिये। माता ने अपने लड़के के कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और आयंदा करने का प्रोत्साहन दिया।

माता से प्रोत्साहन मिला तो उसके हृदय की झिझक निकल गई। उसका उत्साह बढ़ गया। वह प्रतिदिन चोरी करने लगा। धीरे-धीरे वह अन्यान्य वस्तुएँ भी चुराने लगा और अन्त चोरी करने में कुशल हो गया। मगर चोर कुशल होता है तो

क्या पकड़ने वाले कुशल नहीं होते ? कहावत है—सौ वार चोर की तो एक बार साह की ! कभी न कभी चोर पकड़ में आ ही जाता है। वह लड़का भी एक बार चोरी के अपराध में पकड़ा गया और जेलखाने में डाल दिया गया।

अब तक लड़के को पता नहीं था कि चोरी करने का क्या फल भुगतना पड़ता है। जेलखाने की हवा खाने का अवसर आया तब उसकी आंखों का पर्दा दूर हुआ। वह पश्चात्ताप करने लगा और मन ही मन अपनी माता को भी गालियां देने लगा।

जब माता को पता चला कि मेरे बेटे को जेलखाने की सजा हो गई है तो वह तुरन्त रोती-रोती जेलखाने के द्वार पर आई और पुत्र से मिलने के लिए जेलर से प्रार्थना करने लगी। जेलर को दया आ गई। उसने उस लड़के को बुलवाने के लिए एक सिपाही भेजा, किन्तु लड़के ने आने से इन्कार कर दिया और कहा- मैं ऐसी दुश्मन माता का मुँह नहीं देखना चाहता।

सिपाही ने लौट कर जेलर से कहा—हुजूर, लड़का अपनी माता से मिलना नहीं चाहता। उसने आने से इन्कार कर दिया है।

माता के आग्रह करने पर जेलर ने दूसरी बार सिपाही को भेजा, मगर लड़के ने पुनः इंकार कर दिया। मगर जब बुढ़िया की दीन दशा देखी और लड़के से मिलने की उसकी आतुरता देखी तब जेलर जबर्दस्ती लड़के को बुलवाया। लड़का जेलर के आदेश को उल्लंघन नहीं करना चाहता था, अतएव आज्ञा पाकर वह आ तो गया मगर माता की ओर पीठ करके खड़ा हो गया।

जेलर का समय कैदियों में ही व्यतीत होता है। दुनिया के लुच्चे, गुण्डे, चोर, गँठकटे, डकैत, व्यभिचारी और शराबी आदि जेलखानों में पहुँचते हैं और जेलर को उनके सम्पर्क में आना पड़ता है। तरह तरह के मिजाज उसके सामने आते हैं। मगर आज का कैदी निराला था। ऐसे कैदी से उसका कभी साबका नहीं पड़ा था। अतएव उसका ढँग देखकर जेलर को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी समझ में न आया कि लड़का अपनी माता के प्रति इतनी अधिक घृणा क्यों प्रदर्शित कर रहा है ?

आखिर जेलर ने उस लड़के से ही घृणा का कारण पूछा। लड़के ने स्पष्ट शब्दों में कहा—यह मेरी माता नहीं, दुश्मन है। चार आम चुराने के बदले मेरे मुँह पर इसने चार चपत जमा दिये होते तो आज मेरी यह दुर्दशा न होती। मगर इसने ऐसा नहीं किया और उल्टा प्रोत्साहन दिया। उसका परिणाम यह आया है कि मेरी जिंदगी बर्बाद हो गई और सात पीढ़ियों को कलंक लग गया।

बालक की बात सुनकर जेलर ने सोचा—दण्ड देने का प्रयोजन अपराधी को सुधारना है, बदला लेना नहीं। इस बालक को दण्ड देने का प्रयोजन पूरा हो गया है। इसे अपने कुकर्म पर
है। अगर यह कारागार से मुक्त हो जाय तो पुनः अप-
नहीं करेगा। ऐसी स्थिति में इसे जेल में रखना वृथा है।

यह सोच कर जेलर ने यथोचित प्रयत्न करके उस बालक
जेल से मुक्त कर दिया। जेल से निकलने के पश्चात् उसकी
न [illegible] एकदम बदल गई। वह न्याय-नीति से अपनी

प्रभाव नहीं पड़ता। लोग उल्टा उसका उपहास करते हैं। कहते हैं— आप गुरुजी बैंगन खावें, औरों को उपदेश सुनावें।' अतएव यह आवश्यक है कि सन्तान के समक्ष माता-पिता आदि बड़े जन अपने उज्ज्वल जीवन का आदर्श उपस्थित करें।

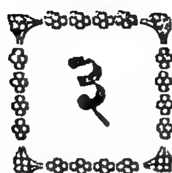
सन्तान के सामने उच्च आदर्श पेश करने के लिए कम से कम आपको स्थूल अदत्तादान का त्याग अवश्य करना चाहिए। स्थूल अदत्तादान वह है जिसे सर्वसाधारण भी चोरी समझते हैं और जिसके लिए राज्य ने दण्ड का विधन किया है। स्थूल चोरी के अनेक रूप हैं। ताला तोड़ कर, किसी दूसरे के ताले में दूसरी चाभी लगाकर, सेंध लगा कर नजर चुरा कर, जेब काट कर, डाका डाल कर या किसी ऐसे ही अन्य उपाय से दूसरे की वस्तु का अपहरण करना स्थूल चोरी है। किसी की धरोहर को हजम कर लेना भी ऐसी ही चोरी में सम्मिलित है। नाप-तोल कर कोई वस्तु देते समय कम देना और लेते समय अधिक ले लेना भी स्थूल चोरी है। इस प्रकार की चोरी का आचरण करने वाला श्रावक पद का अधिकारी नहीं हो सकता।

अगर किसी की ऐसी धारणा है कि चोरी करके सुखी ीवन व्यतीत किया जा सकता है तो वह भ्रम में है। उसे इस मय धारणा का परित्याग कर देना चाहिए। चौर्यकर्य करने । क्षण भर भी सुखी नहीं रह पाता। वह स्वयं ही दुखी नहीं , उसके सम्बन्धी जनों पर भी कभी-कभी भयानक संकट ाड़ता है। यहां तक कि उसके सम्बन्धी जन भी उसे क्षमा करते और संकट में डाल देते हैं।

न्याय-नीति से उपार्जन की हुई सूखी रोटी मनुष्य को अधिक सुखी बना सकती है, परन्तु अन्याय, अनीति और अधर्म का करोड़ों का द्रव्य भी सुखी नहीं बना सकता।

चोर का इहलोक तो बर्बाद होता ही है, परलोक भी बिगड़ जाता है। उसके चित्त में निरन्तर संक्लेश भाव उत्पन्न होते रहते हैं और उनके कारण वह अत्यन्त मलीन कर्मों का बंध करता है। ऐसी स्थिति में उसका परलोक बिगड़ेगा नहीं तो सुधरेगा कैसे? तो जो चौर्यकर्म इहलोक और परलोक में दुख-दायी है, जो अपमान, अप्रतिष्ठा और घृणा का जनक है, उसका परित्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। चोरी का त्याग करने से जीव कर्मों के भार से हल्का होता है और उसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है।

ब्यावर
३०-७-४१



सामायिक



स्तुतिः—

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त।।
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकर प्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजाल विवृद्धशोभम्,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ।।

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

प्रभो ! आप जहां कहीं भी विराजमान होते हैं, आपके ऊपर तीन छत्र सुशोभित होते हैं। किसी राजा-महाराजा के सिर पर एक छत्र होता है, किन्तु आपके मस्तक पर तीन छत्र होते

हैं। इसका कारण यह है कि राजा छोटे से भूमण्डल का ही स्वामी होता है। बड़े से बड़ा राजा, जो चक्रवर्ती कहलाता है, वह भी अधिक से अधिक एक क्षेत्र का ही स्वामी होता है। वह एक क्षेत्र, समस्त पृथ्वी की तुलना में नगण्य है। किसी गिनती में नहीं है। आपको मालूम होना चाहिए कि इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। जम्बूद्वीप, जिसमें हम लोग इस समय हैं, उन सब द्वीप-समुद्रों के मध्य में है और सबसे छोटा है। इसका विस्तार एक लाख योजन का है। इससे आगे एक समुद्र है जो जम्बूद्वीप को चारों ओर से घेरे हुए है। वह लवण-समुद्र कहलाता है। लवणसमुद्र से आगे फिर एक द्वीप है और वह लवणसमुद्र को घेरे हुए है। उसका नाम धातकीखण्ड द्वीप है। धातकीखण्ड को घेरे हुए फिर एक समुद्र है जिसे कालोदधि समुद्र कहते हैं। उससे आगे, उसे चारों तरफ से घेरे हुए पुष्कर द्वीप है। इस प्रकार द्वीपों और समुद्रों का क्रम चलता ही चला गया है। असंख्य द्वीपों और असंख्य समुद्रों के अन्त में स्वयंभू-रमण समुद्र है और उसके बाद मध्यलोक की सीमा समाप्त हो जाती है। यह सब द्वीप और समुद्र एक दूसरे से दुगुने विस्तार वाले हैं। यथा—जम्बूद्वीप से दुगुना विस्तृत अर्थात् दो लाख योजन के विस्तार वाला लवणसमुद्र है। उससे दुगुना अर्थात् चार लाख योजन विस्तृत धातकीखण्ड द्वीप है। उससे द्विगुणित आठ लाख योजन विस्तार वाला कालोदधि समुद्र है। उससे द्विगुणित अर्थात् सोलह लाख योजन लम्बा चौड़ा पुष्कर द्वीप है। इसी प्रकार आगे के सब समुद्रों और द्वीपों का विस्तार दुगुना-दुगुना होता गया है। अन्तिम समुद्र का विस्तार इतना विशाल है कि वह हम लोगों की कल्पना में भी ठीक तरह नहीं आ सकता।

यह तो मध्यलोक की बात हुई। इससे नीचे अधोलोक है और ऊपर ऊर्ध्वलोक है। यह दोनों लोक मध्यलोक की अपेक्षा बहुत बड़े हैं।

अभिप्राय यह है कि तीनों लोकों में मध्यलोक विस्तार की अपेक्षा सबसे छोटा है और मध्यलोक के असंख्यात द्वीप-समुद्रों में जम्बूद्वीप सबसे छोटा है। जम्बूद्वीप में भी मुख्य सात क्षेत्र हैं और भरतक्षेत्र उन सब में छोटा है। (सिर्फ ऐरवत क्षेत्र ही भरत क्षेत्र के बराबर है)। भरतक्षेत्र के छह खण्ड हैं, जिन पर चक्रवर्त्ती राजा का शासन होता है।

अब आप विचार कीजिए कि चक्रवर्त्ती के राज्य की सीमा भी कितनी क्षुद्र है। उसकी तुलना में तीन लोक का विस्तार बहुत बड़ा है। दोनों में संभवतः इतना ही अन्तर है जितना समुद्र और एक बिन्दु में होता है। तीन लोक का विस्तार समुद्र के समान है तो भरतक्षेत्र बिन्दु के समान है।

अतएव अगर चक्रवर्त्ती के मस्तक पर एक छत्र हो तो तीनों लोकों के नाथ के मस्तक पर तीन छत्रों का होना स्वाभाविक ही है। यह तीन छत्र देवनिर्मित होते हैं और आठ महाप्रातिहार्यों में इनकी गणना है। यह तीन छत्र इस बात की घोषणा करते हैं कि तीर्थंकर भगवान् तीन लोक के नाथ हैं।

जो वस्तु देवों द्वारा निर्मित हो उसकी सुन्दरता और मनोहरता में क्या कमी रह सकती है ? वे तीनों छत्र अतीव उज्ज्वल होते हैं और चन्द्रमा के समान कमनीय प्रतीत होते हैं। वे सूर्य की धूप को रोक देते हैं। प्रथम तो छत्र ही अत्यन्त सुन्दर होते

हैं, फिर उनमें लगे हुए दिव्य मोतियों के समूह के समूह उनकी शोभा में और अधिक वृद्धि कर देते हैं।

भगवान् पूर्ण वीतराग होते हैं। उन्हें न तो अपनी पूजा-प्रतिष्ठा की अभिलाषा होती है और न किसी प्रकार के ऐश्वर्य की। न वे सौन्दर्य की कामना करते हैं और न किसी प्रकार के ठाठ की। यह सब बातें कषाय युक्त छद्मस्थ जीवों में ही होती है। वीतराग प्रभु सर्वथा निरीह, निष्काम हैं। अपनी आत्मा के स्वरूप में निरन्तर निमग्न रहते हैं। अतएव आठ प्रातिहार्यों की रचना में उनकी कोई सम्मति या अनुमति नहीं होती। तथापि देवगण अपने हृदय की अपरिमित भक्ति प्रकट करें तो कैसे करें? वे उस भक्ति के अतिरिक्त को इस रूप में प्रकट करते हैं।

तो तीन लोक के अधिपति, त्रिलोकी के पूज्य और सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के उपदेशक और इस कारण तीन छत्रों के धारक भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम नमस्कार हो।

भाइयो! भगवान् ऋषभदेवजी ने और उनके पश्चात् होने वाले सभी तीर्थंकरों ने तीन अनमोल रत्नों का उपदेश दिया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, यह तीन रत्न हैं। साधारण पाषाणमय रत्नों से अर्थात् द्रव्यरत्नों से जैसे बहुमूल्य वस्तु खरीदी जा सकती है, उसी प्रकार इन तीन भाव-रत्नों से विश्व की सर्वोत्कृष्ट वस्तु-मुक्ति खरीदी जा सकती है।

सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित तत्त्व के प्रति श्रद्धा, रुचि और प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्ष रूपी महल का

प्रथम सोपान है। जब तक आत्मा में सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव नहीं होता, तब तक आत्मा मोक्षमार्ग के सन्मुख नहीं होता, आत्माभिमुख नहीं होता और उसमें आत्मा को समीचीन रूप से समझने की जिज्ञासा भी उत्पन्न नहीं होती। तब तक वह बहिरात्मा बना रहता है, पुद्गलानन्दी बना रहता है और संसार की वासनाओं के जाल में ही जकड़ा रहता है।

सम्यग्दर्शनहीन प्राणी चाहे कितना ही उच्चकोटि का ज्ञान प्राप्त कर ले, मगर उसके ज्ञान का उपयोग अपने आपको समझने में नहीं होता। उसकी आंखें दुनिया की तरफ रहती हैं, अपनी तरफ नहीं जातीं। वह नहीं जानता कि—

कोऽहं कीदृक् कुत आयातः ?

अर्थात्—मैं कौन हूँ ? मेरा क्या स्वरूप है ? मैं कहां से आया हूँ ?

ऐसी स्थिति में वह विज्ञ होते हुए भी अज्ञ होता है। उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म ज्ञान भी अज्ञान ही रहता है। अनात्मज्ञ में वस्तुतः सम्यग्ज्ञान की कल्पना कैसे की जा सकती है ?

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने पर ही आत्मा-अनात्मा का विवेक उत्पन्न होता है। जब जीव में सम्यग्दृष्टि प्रकट होती है तो मनुष्य जगत् में एक अप्राप्तपूर्व आलोक पाता है। उसे अनिर्वचनीय शान्ति प्राप्त होती है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति दो प्रकार से होती है। कोई-कोई जीव सद्गुरु के उपदेश से या शास्त्र के अभ्यास से तत्त्वश्रद्धा

प्राप्त करते हैं। किन्हीं-किन्हीं को परोपदेश के बिना ही कर्म का क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन का लाभ हो जाता है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में रुकावट डालने वाला कर्म दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी कषाय है। जब इन कर्मप्रकृतियों का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होता है तो जीव स्वतः सम्यक्त्व का पात्र बन जाता है।

पिधानं दुर्गतिद्वारे, निधानं सर्वसम्पदः।
विधानं मोक्ष सौख्यानां, पुण्यैः सम्यक्त्वमाप्नुयात्॥

सम्यग्दर्शन में ऐसी अपूर्व शक्ति होती है कि वह आत्मा को ऊपर की ओर ही ले जाता है कभी नीचे नहीं गिरने देता। वह दुर्गति के द्वार को रोक देता है। सम्यग्दृष्टि जीव नरकगति, पशुगति आदि दुर्गति में नहीं जाता। सम्यग्दर्शन के प्रभाव से सब प्रकार की लौकिक और लोकोत्तर सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं। वही मोक्ष के अनुपम, अव्याबाध, अनन्त, अपरिमित और अक्षय-सुख को प्रदान करने वाला है।

सम्यग्दर्शन के होने पर ज्ञान अनायास ही सम्यग्ज्ञान बन जाता है। जब दृष्टि विशुद्ध हो जाती है, आत्मोन्मुखी हो जाती है। प्रगाढ़ राग-द्वेष रूप कषायों का अन्त आ जाता है, सत्य को स्वीकार करने की अभिरुचि उत्पन्न हो जाती है और कदाग्रह का निग्रह हो जाता है, तब बुद्धि की शुद्धि भी हो जाती है। यही सम्यग्ज्ञान का लक्षण है। यह दूसरा रत्न है।

तीसरा रत्न सम्यक्चारित्र है। प्रशस्त क्रियाओं में प्रवृत्ति करना और अप्रशस्त क्रियाओं से निवृत्त होना सम्यक्चरित्र है।

यह व्यावहारिक-स्थूल चारित्र का स्वरूप है। असल में स्व-स्वरूप रमण की वृत्ति को ही चारित्र कहते हैं।

सम्यक्चारित्र अधिकारी के भेद से दो प्रकार का है—सर्वविरति चारित्र और देश विरतिचारित्र। हिंसा आदि पापों का पूर्णरूपेण त्याग करने से फलित होने वाले पांच महाव्रत तथा उनके पोषक समिति, गुप्ति आदि उत्तर व्रत सर्व विरति चारित्र के अन्तर्गत हैं, सर्वविरति चारित्र का पालन गृहस्थ नहीं कर सकता। इसके पालन के लिए सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग करने की अनिवार्य आवश्यकता होती है, जो गृहत्यागी अनगार ही कर सकते हैं। सर्वविरति चारित्र की सीमाएँ बहुत विशाल हैं। शास्त्रों में उसका अत्यन्त विस्तृत, विशद और सूक्ष्म वर्णन किया गया है।

किन्तु जैनधर्म सिर्फ गृहत्यागी साधु संतों के लिए नहीं है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी भूमिका के अनुसार उसका पालन कर सकता है। यह नहीं कि या तो सम्पूर्ण चारित्र का पालन करो या बिलकुल ही मत करो। इस कारण भगवान् ने गृहस्थों की क्षमता एवं योग्यता का विचार करते हुए देशविरति चारित्र का भी विधान किया है। देशविरति चारित्र का अर्थ है श्रावकधर्म। श्रावकधर्म में भी मूलव्रत वही अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं परन्तु उनका आंशिक पालन किया जाता है। श्रावक स्थूल हिंसा, स्थूल असत्य, स्थूल स्तेय (चोरी) का त्याग करता है, स्वस्त्री का आगार रखकर परस्त्री सेवन का त्याग करता है और परिग्रह का परिमाण कर लेता है। इन व्रतों की भली भांति आराधना करने के लिए चार शिक्षा व्रतों और

तीन गुणव्रतों का भी पालन करता है। दान, शील, तप और भावना रूप चतुष्टयी का सेवन करता है।

इस प्रकार भगवान् ने रत्नत्रय का उपदेश दिया है। भौतिक रत्न भी मनुष्य को आनंद दे सकते हैं पर वह आनन्द क्षणिक होता है और ऐकान्तिक नहीं होता। उनसे कभी-कभी आनंद के बदले घोर दुःख भी प्राप्त होता। किन्तु इस रत्नत्रय से कदापि किसी भी प्रकार के अनर्थ की संभावना नहीं। इससे प्राप्त होने वाला सुख शाश्वत होता है। इस सुख में दुःख का सम्मिश्रण नहीं होता। अतएव यह रत्नत्रय ही आत्मा के लिए हितकारी है। यही आत्मा का स्वरूप है।

शास्त्रकारों ने इस रत्नत्रय का चार सामायिकों के रूप में भी विभाग किया है। यथा (१) सम्यक्त्व सामायिक (२) श्रुत सामायिक (३) देशविरति सामायिक और (४) सर्व विरति सामायिक।

सम्यक्तव सामायिक सम्यग्दर्शन रूप है श्रुत सामायिक का सम्यग्ज्ञान में समावेश है और देशविरति तथा सर्वविरति सामायिक का सम्यक् चरित्र में अन्तर्भाव होता है।

जैनशास्त्रों में सामायिक का बड़ा महत्त्व है। 'सामायिक' शब्द 'सम' और 'आय' के मेल से बना है। इसका अर्थ है—समभाव की प्राप्ति होना। जिस अनुष्ठान से समभाव की प्राप्ति होती है, वह अनुष्ठान सामायिक कहलाता है।

शास्त्रों में जितना भी विधिविधान है, उस सबका एकमात्र उद्देश्य समभाव की प्राप्ति करना है। समभाव का अभिप्राय है-राग और द्वेष की निवृत्ति। राग और द्वेष ही समस्त अनर्थों के

मूल हैं। इन्हीं की बदौलत संसारी प्राणियों को जन्म-जरा-मरण के अनन्त दुःख सहन करने पड़ते हैं भवभ्रमण इन्हीं की कृपा से होता है। संसार को अगर वृक्ष मान लिया जाय तो राग-द्वेष उसके बीज हैं जिसने राग द्वेष की जड़ उखाड़ कर फैंक दी, समझ लीजिए कि उसने अपने भवभ्रमण का अन्त कर लिया। उसे समस्त दुःखों, कष्टों वेदनाओं और व्यथाओं से छुटकारा मिल गया।

आत्मा में अनन्त आनन्द विद्यमान है। मगर राग-द्वेष रूप कषाय ही उसे पर्दे की ओट में ढ़के हुए हैं। इनके कारण जीव अपने असली और शुद्ध स्वरूप को समझ भी नहीं पाता तो उसे पा लेने की तो बात ही दूर रही। जब इन दोनों शत्रुओं से छुटकारा मिलता है तभी जीव अपने आत्म स्वरूप को पहचानता है। जब जीव अपने स्वरूप को पहचान लेता है तो फिर संसार का उत्तम से उत्तम वैभव भी उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मिक वैभव इतना आकर्षक होता है कि उसके सामने तीनों लोकों का समग्र वैभव भी तुच्छ अति-तुच्छ प्रतीत होता है। मगर आत्मिक वैभव को पहचानने के लिए समभाव जागृत होना चाहिए।

समभाव ही आत्मा के सुख का प्रधान कारण है। समभाव उत्पन्न हो जाने पर कठिन से कठिन कर्म भी सहज ही नष्ट हो जाते हैं। आचार्य ने कहा है—

प्रणिहन्ति क्षणार्धेन, साम्यमालम्ब्य कर्म तत्।
यन्न हन्यान्नरस्तीव्रतपसा जन्मकोटिभिः॥

समभाव का अवलम्बन करके मनुष्य आधे क्षण में भी उन कर्मों को विनष्ट कर सकता है, जिन्हें तीव्रतर तपश्चर्या करके मनुष्य करोड़ों जन्मों में भी नष्ट नहीं कर सकता।

अहा ! समभाव का प्रभाव कितना महान् है। समभाव के अभाव में की जाने वाली क्रियाएँ लगभग निष्फल ही होती हैं। यही समभाव सामायिक है। सामायिक रूपी सूर्य का उदय होने पर राग-द्वेष का अन्धकार न जाने कहां विलीन हो जाता है। कहा है—

रागादिध्वान्तविध्वंसे, कृते सामायिकांशुना
स्वस्मिन् स्वरूपं पश्यन्ति, योगिनः परमात्मनः ॥

अर्थात्—आत्मा में जब समभाव का प्रखर सूर्य उदित होता है तो राग-द्वेष का तिमिर नष्ट हो जाता है और आत्मा दिव्य आलोक से उद्भासित हो जाता है। उस दिव्य आलोक में योगी जन अपने भीतर ही परमात्मा का स्वरूप देखने लगते हैं।

वास्तव में सामायिक की महिमा अपार है। जिसने एक वार भी सच्ची सामायिक कर ली, उसे संसार के सारे राग-रंग फीके नज़र आने लगते हैं। भोग नीरस प्रतीत होने लगते हैं। उसका सारा जीवनक्रम ही बदल जाता है।

सामायिक के दो भेद हैं—भावसामायिक और द्रव्यसामायिक। ऊपर जो कहा गया है, उससे भावसामायिक का अभिप्राय आपकी समझ में आ गया होगा। मगर याद रखना चाहिए कि भावसामायिक की प्राप्ति होना सरल नहीं है। अनादिकाल से राग-द्वेष की आग में जलते हुए इस आत्मा में विषम भावों की

प्रधानता है। विषम भावों को नष्ट करके आत्मा में समभाव की सुधा प्रवाहित करने के लिए अभ्यास की आवश्यकता है। यह अभ्यास द्रव्यसामायिक के द्वारा होता है, इस सामायिक के लिए कई बातों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है।

वास्तव में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से शुद्ध होकर सामायिक करना ही शुद्ध सामायिक है और ऐसी सामायिक से ही लाभ की प्राप्ति होती है। सामायिक के उपकरण, वस्त्र एवं शरीर की शुद्धि होनी चाहिए। सामायिक-भवन अर्थात् स्थानक शुद्ध होना चाहिए। प्रातःकाल आदि काल होना चाहिए। इन सब के साथ भावों की शुद्धि होनी चाहिए। दो घड़ी पर्यन्त मन वचन और काया के अशुभ व्यापार को रोक कर आत्मा और परमात्मा में लौ लगाना चाहिए। सामायिक में आत्मचिन्तन, प्रभुस्मरण आदि क्रियाओं के सिवाय समस्त सावद्य क्रियाओं को करना निषिद्ध है। सामायिक में कर्मों की निर्जरा करने का अपूर्व सामर्थ्य है। एक आचार्य कहते हैं—

त्यक्तार्त्तरौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः।
मुहूर्त्तं समता या तां, विदुः सामायिकव्रतम्॥

अर्थात्—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग कर देने वाले तथा सावद्य कर्मों का त्याग कर देने वाले पुरुष में एक मुहूर्त्त पर्यन्त जो समभाव होता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है।

सामायिक के समय आर्त्त और रौद्रध्यान से बचना अत्यन्त आवश्यक है। जिसके मन में इन दो अप्रशस्त ध्यानों में

से किसी एक का अस्तित्व होता है, उसमें समभाव की जागृति होना संभव नहीं है। इन दो ध्यानों से बचने के लिए बारह भावनाओं का चिन्तन करना उपयोगी होता है। प्रशस्त एवं वैराग्यवर्धक भावनाओं में मन को उलझा दिया जाय तो वह दुर्ध्यान की ओर नहीं जाता। बारह भावनाएँ इस प्रकार हैं:—

(१) अनित्यभावना—संसार की, जीवन की, भोगोपभोगों की तथा धनादि की चंचलता, नश्वरता, क्षणभंगुरता का विचार करना।

(२) अशरणभावना—ऐसे विचार करना कि इस जगत् में मेरा कोई रक्षक नहीं है, कोई शरणदाता नहीं है। रोग अथवा मृत्यु के आने पर कोई किसी की रक्षा नहीं कर सकता—

दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती विरियां जीव को, कोइ न राखनहार॥

(३) संसार भावना—यह जीव आठ कर्मों के तथा कषायों के अधीन होकर किस प्रकार अनादि काल से चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण कर रहा है। इस जीव ने किस-किस गति में कैसे कैसे कष्ट सहन किये हैं तथा—

होता यदि संसार सुखों का धाम त्याग क्यों करते—
तीर्थंकर चक्री क्यों जाकर वन में कहो विचरते?
बड़े बड़े भूपालों ने क्यों जग से नाता तोड़ा?
अपना विस्तृत निष्कंटक क्यों राज्य उन्होंने छोड़ा?॥

(४) एकत्वभावना–आत्मा के एकाकीपन का विचार करना। जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही अपने किये कर्मों का फल भोगता है।

दुनिया के बाजार में, चलकर आया एक।
मिले बहुत पर अन्त में रहे न हाय! अनेक ॥

हे जीव! जिनके लिए तू पाप का आचरण करता है, उनमें से कोई भी तेरा साथ देने वाला नहीं।

(५) अन्यत्वभावना–आत्मा की भिन्नता का विचार करना। यह जीव भले ही शरीर के साथ रहता है और शरीर के द्वारा ही विविध प्रकार की प्रवृत्तियां करता है, तथापि दोनों के स्वरूप में महान् अन्तर है। शरीर जड़ और आत्मा चेतन है। यह शरीर यहीं रह जाता है और आत्मा दूसरी गति में जाकर जन्म लेता है। दोनों एक कदापि नहीं हो सकते। और जब आत्मा शरीर से ही पृथक् है तो दुनिया के अन्य पदार्थ—धन, वैभव कुटुम्ब-परिवार आदि तो आत्मा से अभिन्न हो ही कैसे सकते हैं?

(६) अशुचित्वभावना-मनुष्य के लिए विश्व में सब से अधिक प्रिय वस्तु शरीर है। जगत् के जिन पदार्थों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध होता है, वह शरीर के द्वारा ही होता है। इस कारण शरीर सब से अधिक ममता का पात्र है। अगर शरीर सम्बन्धी ममत्व कम हो जाय या छूट जाय तो अन्य पदार्थों की ममता अनायास ही दूर हो सकती है। शारीरिक ममत्व का निवारण करने के लिए ही यह अशुचित्वभावना बतलाई गई है। इस

भावना में शरीर की स्वाभाविक अपावनता का चिन्तन किया जाता है। कितना अशुचि है यह शरीर ! अगर इसके ऊपर की चमड़ी उतार दी जाय और फिर शरीर का असली स्वरूप देखा जाय तो घृणा हुए बिना नहीं रहती ! संसार भर में शरीर के समान गंदी वस्तु और कौन-सी है ? वास्तव में यह मल-मूत्र की थैली है। नाशशील है, नाना प्रकार के रोगों का घर है, दुःख का कारण है। इस प्रकार का विचार करना अशुचित्वभावना है।

(७) आस्रवभावना—संसार अर्थात् जन्म-मरण का मूल कारण आस्रव है। आस्रव का अर्थ है—कर्मों का आना। मगर आत्मा के जिन परिणामों से कर्मों का आगमन होता है वह भी आस्रव कहलाते हैं। इस भावना में यह विचार किया जाता है कि किस-किस प्रकार के अध्यवसाय से कैसे-कैसे कर्म आते और बँधते हैं। इस भावना के चिन्तन से आस्रवजनक भावों से और कार्यों से चित्त हटता है।

(८) संवरभावना—आस्रव का विरोधी भाव संवर है। संवर का आशय है आस्रव का रुकना, अर्थात् जिस उपाय से कर्मों का आगमन रोका जाता है, वह संवर कहलाता है। उदाहरणार्थ—मिथ्यात्व आस्रव से आने वाले कर्मों का निरोध सम्यक्त्व से होता है, अतएव सम्यक्त्व संवर है। अविरति-आस्रव से आने वाले कर्म विरति से रुकते हैं. अतएव विरति संवर है। इसी प्रकार प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आने वाले कर्म अप्रमत्तता अकषायता और अयोगिता से रुकते हैं। अतएव यह सब संवर है। संवरभावना का चिन्तन करने से कर्मनिरोध की प्रेरणा मिलती है।

(९) निर्जराभावना—संवर के द्वारा नवीन कर्मों का आगमन रोक दिया जाय तो भी पूर्वबद्ध कर्मों को निर्जीर्ण करने की आवश्यकता रहती है। जब तक पहले बँधे कर्मों का क्षय न किया जायगा तब तक नये कर्मों का आना रोक देने पर भी आत्मा कर्महीन नहीं हो सकता। अतएव उन भावों का चिन्तन करना चाहिए, जिनसे निर्जरा होती है। निर्जरा का प्रधान साधन तपश्चरण है और वह बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का है। तात्पर्य यह है कि निर्जरा भावना में कर्मों को क्षय करने के उपायों का चिन्तन किया जाता है।

(१०) लोकभावना—इस भावना का आशय स्पष्ट है। लोक का, आकार का चिन्तन करना लोकभावना है। यथा—

जहां द्रव्य छह रह रहे, हैं वह लोकाकाश)
महा शून्य आकाश को, समझ अलोकाकाश ॥
लोक अनादि अनन्त है, नर्त्तक पुरुषाकार।
ऊँचा चौदह राजु है, चेतन-कारागार ॥

तीनों लोकों की सम्पूर्ण रचना का चिन्तन इस भावना में किया जाता है।

(११) बोधिदुर्लभभावना—संसार में चौरासी लाख जीवयोनियां हैं। कर्म के वशीभूत होकर जीव इन योनियों में अनादि काल से भटक रहा है। कभी नरक में तो कभी निगोद में, कभी पृथ्वी, पानी, आग, वायु एवं वनस्पति में तो कभी विकलेन्द्रिय अवस्था में, कभी पशुओं में, कभी पक्षियों में, कभी मनुष्य गति

में तो कभी देवगति में जन्मता और मरता है। परन्तु इसे बोधि (सम्यक्त्व) की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है। अत्यन्त तीव्र पुण्य के योग से मनुष्यभव, आर्य क्षेत्र, सुकुल में जन्म, वीतरागवाणी का श्रवण, उस पर श्रद्धा और रुचि आदि निमित्त जब मिलते हैं, तब यह जीव बोधि प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार का चिन्तन बोधिदुर्लभ भावना है।

(१२) धर्मभावना—इस भावना में धर्म के स्वरूप पर और वह किस प्रकार आत्मा के लिए कल्याणकारी होता है, आदि बातों पर विचार किया जाता है।

सामायिक में इन भावनाओं का बार-बार चिन्तन करना अतीव लाभदायक होता है। धर्मचिन्तन या स्वाध्याय के सिवाय अन्य लौकिक क्रियाएँ सामायिक में नहीं करनी चाहिए। शुद्ध सामायिक तभी होती है और शुद्ध सामायिक करने वाला व्यक्ति बहुत-से कर्मों की निर्जरा कर डालता है।

सामायिक करना उत्तम से उत्तम धर्मक्रिया है, परन्तु दूसरों को सामायिक की शिक्षा देना और सामायिक के उपकरण देना भी उत्तम कार्य है। अपढ़ व्यक्ति के लिए शुद्ध सामायिक करना कठिन होता है। किन्तु इस प्रदेश में खास तौर से बाइयों में शिक्षा की बहुत कमी है। गुजरात की स्त्रियां प्रायः धार्मिक शिक्षा प्राप्त की हुई होती हैं, अतएव वे प्रायः अन्धश्रद्धा से और अव्यवस्थित रूप से सामायिक नहीं करतीं, किन्तु उसका असली महात्म्य समझकर करती हैं।

जहां सामायिक करने के लिए पृथक् भवन होते हैं, वहां —सर अनेक भाई पहुँच जाते हैं और सामायिक करते हैं।

मगर जहां भवन की सुविधा नहीं होती वहां सामायिक के योग्य वातावरण का निर्माण नहीं हो पाता। अतएव जहां सामायिक-भवन नहीं हैं, वहां उनकी व्यवस्था होनी चाहिए।

हम भरतपुर गये। वहां के भाई गरीब हैं। न उनके यहां सामायिक करने के लिए कोई भवन था। हम एक अग्रवाल भाई के मकान में ठहरे और वहीं उपदेश दिया। वहां से चलकर आगरा पहुँचे। व्याख्यान में भरतपुर की स्थिति बतलाई और साधर्मीसहायता की बात कही तो वहां के भाइयों ने उसी समय २५००) रु० का चन्दा मकान बनवाने के लिए कर दिया। उन रुपयों से एक मकान खरीद लिया गया और अब वहां खूब धर्म-ध्यान होता है। साधु-संत भी वहीं ठहरते हैं। तात्पर्य यह है कि सामायिक के साधन प्रस्तुत कर देना भी एक महान् लाभ का काम है।

सामायिक अंगीकार करके प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिए कि—हे परम पिता! आज का दिन मेरे लिए बड़ा सुनहरी है, जिससे मुझे सामायिक का यह अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ। भगवन्! आज का समग्र दिन पवित्र हो और निर्विघ्न समाप्त हो। मुझे अन्य किसी भी वस्तु की चाहना नहीं है, किन्तु आज के दिन मेरी भावना शुद्ध बनी रहे। मेरे मन में तनिक भी कालुष्य प्रवेश न कर सके। संसार सम्बन्धी कार्य करते समय भी मैं धर्म को विस्मृत न कर दूं। मेरे प्रत्येक जीवन व्यवहार में धर्म ओत-प्रोत रहे। मैं वीतराग भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कोई काम न करूँ। नाथ, मेरी बुद्धि शुद्ध रहे।

प्रत्येक मजहब में इस बात की ताकीद है कि हमेशा कम से कम दो घड़ी प्रभु की प्रार्थना अवश्य करनी चाहिए। आप तलाश करेंगे तो हर मजहब में यह चीज मिलेगी। कोई इसे संध्या कहते हैं तो कोई उपासना कहते हैं, कोई इबादत कहते हैं, कोई प्रार्थना आदि। मतलब यह है कि दुनिया में कोई मजहब नहीं है जो भगवान् की भक्ति करने के लिए जोर न देता हो।

मनुष्य का परम कर्त्तव्य है कि वह चौवीस घण्टों में से कम से कम दो घड़ी तो प्रभु की भक्ति अवश्य करे। स्वयं भी करना चाहिए और दूसरों को भी करने की प्रेरणा करते रहना चाहिए। दलाली करने में भी बड़ा फायदा होता है। बावन डूंगर (पहाड़) सोने की दलाली करने की अपेक्षा भी अधिक लाभ एक सामायिक की दलाली करने में हैं। कोई आदमी एक लाख अशर्फियां प्रतिदिन दान देता है और दूसरा व्यक्ति प्रतिदिन एक सामायिक करता है, तो वह सामायिक करने वाला, उस दान देने वाले से अधिक लाभ कमाता है। मगर सामायिक सच्ची होनी चाहिए, भावमय होनी चाहिए। भगवान् ने अनुयोगद्वार सूत्र में फर्माया है कि सच्ची सामायिक त्रस और स्थावर सभी जीवों पर समभाव रखने से ही होती है। सामायिक के समय संसार सम्बन्धी कोई बात नहीं करना चाहिए। आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी चिन्तन में ही वह समय लगाना चाहिए।

एक बार कहीं सासू और बहू दोनों सामायिक करने बैठीं। इसी बीच एक चोर ने घर में प्रवेश किया। वह छिप कर बैठ गया। दोनों विधवाएँ शुद्ध हृदय से सामायिक करती रहीं। सामायिक का समय पूरा होने पर सामायिक पार कर आपस में बातें

करने लगीं—हम दोनों विधवाएँ हैं, अतएव हमें बड़ी सावधानी से रहना चाहिए। बहू ने जोर से अपनी सासू से कहा—सासूजी, सारे धन की पोटली बांध कर पास वाले नीम के पेड़ की शाखा पर बांध देना चाहिए, ताकि किसी चोर को चोरी कर ले जाने का खयाल भी न आ पावे। यह कह कर बहू ने एक ओढ़ना ले जाकर नीम के ऊपर टांग दिया।

चोर यह सब सुन रहा था। उसने सोचा—मेरे हक में यह बहुत अच्छा हुआ।

सास-बहू दोनों लेट गईं। ज्यों ही चोर बाहर निकला, उन्होंने दरवाजा बन्द कर लिया और निश्चिन्त होकर सो गईं। चोर सीधा नीम के पेड़ पर पहुँचा। जिस शाखा पर वह ओढ़ना टांगा गया था, उसी पर मधु-मक्खियों का एक छत्ता लगा था। रात के अन्धकार में चोर ने उस छत्ते को ही धन की पोटली समझ लिया। वृक्ष के ऊपर चढ़ कर उसने ज्यों ही पोटली को लेने के लिए छत्ते पर हाथ मारा, सारी मक्खियां उड़ीं और उन्होंने चोर का सारा शरीर चींथ डाला।

चोर चिल्लाने लगा तो दोनों ने कहा-क्या हुआ? चोर ने कहा—मरा रांड मरा!' यह कह कर चोर भाग खड़ा हुआ।

सामायिक की बदौलत ही उनकी सम्पत्ति की रक्षा हुई। मगर जैसा कि पहले कहा है, सामायिक का यह लाभ तो नगण्य है। उससे होने वाले लोकोत्तर लाभ का तो वर्णन करना ही कठिन है।

सामायिक में समताभाव की आराधना की जाती है। ऐसा नहीं होना चाहिए कि करने बैठे सामायिक और करने लगे दुनियादारी की बातें। एक स्त्री सामायिक करने बैठी और सोचने लगी—कहीं कुत्ता घर में न घुस आए! पाड़ा गुड़ की भेली न खा जाय! वह ऐसा सोच ही रही थी कि उसका पति आ गया और बोला दुकान की चाबी और पसेरी चाहिए। स्त्री ने सोचा—सामायिक में इन चीजों को बतलाने से दोष होता है। अतएव उसने चौबीसी गाना शुरु किया और उसी में सभी कामों को हल कर दिया—

पहले बांधूं श्री अरिहन्त,
कूंची तो ऊंची पडन्त।
पाड़ो तो भेली चरन्त,
पंसेरी घट्टी अडन्त, हो जिनजी ॥

कहिए कैसी बढ़िया सामायिक है! सामायिक भी कर ली और घर का काम भी कर लिया! मगर ऐसी सामायिक करने से कुछ भी लाभ नहीं है। यह तो समय को व्यर्थ नष्ट करना और अपने मन को धोखा देना है। समभाव एवं शुद्धभाव से सामायिक करना ही लाभदायक है।

भाइयो! यदि जन्म-मरण की भीषण व्यथाओं से छूटना चाहते हो और मुक्ति प्राप्त करना चाहते हो, शाश्वत सुख का भागी होने की इच्छा है तो शुद्ध भावना के साथ सामायिक करो। सामायिक को छोड़ कर मोक्ष का को दूसरा मार्ग नहीं है।

जो दो घड़ी भी प्रभु भक्ति नहीं कर सकता, ऐसे मनुष्य के जन्म से तो गधे-घोड़े का जन्म ही अच्छा है।

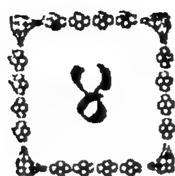
जाती है उम्र तुम्हारी, प्रभु को भजो रे भाई।
गफलत में क्यों पड़े हो, अनमोल देह पाई ॥ टेर ॥
सेजों के बीच सोते, नारी का रूप जोते।
अरे हैं रे सुख ये थोते, तू क्यों रहा लुभाई ॥ १ ॥
पोशाक तन सजाते, इतर फुलेल लगाते।
बागों के बीच जाते, सैलें करें सवाई ॥ २ ॥
दुनियां तो है तमाशा, पानी में ज्यूं पताशा।
जब निकल जाय स्वासा, दे मिट्टी में मिलाई ॥ ३ ॥
कौन किसी के साथ जाता, नाहक तू दिल फंसाता।
कर धर्म का साथ आता, दिया चौथमल चेताई ॥ ४ ॥

भाइयो ! मैं चेतावनी दे रहा हूँ। तुम्हें चेत जाना चाहिए। यही चेतने का उपयुक्त समय है। इस समय नहीं चेतोगे तो फिर पछताना पड़ेगा और जब समय निकल जायगा तो पछताने से भी कोई लाभ नहीं होगा। देखो, आजकल मनुष्य की आयु बहुत लम्बी नहीं होती। उस पर भी अकालमृत्यु का होना असम्भव नहीं है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह वृद्ध हो, जवान हो या बालक हो, किसी भी समय काल का ग्रास बन सकता है। काल बड़ा बलशाली है और उसके सामने किसी का जोर नहीं चल सकता। ऐसी असहाय और अशरण अवस्था में किस का

भरोसा करके निश्चिन्त होकर बैठे हो ? जो क्षण मिला है, उसका सदुपयोग करो। भाई ! उसे व्यर्थ नष्ट मत करो। यह अनमोल देह पाकर गफ़लत में मत पड़ो। संसार के सुखों में, इन भोग विलासों से कुछ भी सार नहीं है। एक दिन अचानक ही श्वास रुद्ध हो जाएगा और सब खेल खत्म हो जाएगा।

जीवन का मिलना ही सब कुछ नहीं है, उसका सदुपयोग करना बड़ी बात है। आज तुझे सब प्रकार की अनुकूलता है। इसका लाभ लेकर धर्मध्यान कर ले। सामायिक कर ले। एक भी सामायिक सच्चे भाव से शुद्ध रूप से कर लेगा तो तुझे मोक्ष महल में पहुंचने का 'परमिट' (प्रवेश पत्र) मिल जाएगा और आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

ब्यावर
३१-७-४१ }



तपश्चरण



स्तुतिः—

कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं,
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार,
मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

प्रभो ! आपके प्रकृष्ट पुण्य की महिमा का वर्णन होना असंभव है। जब आप सुरविनिर्मित समवसरण में विराजमान होते हैं तब आपका सुनहरा शरीर, कुन्द के श्वेत कुसुमों के

समान उज्ज्वल धवल और सुन्दर हिलते हुए चामरों से अद्भुत शोभासम्पन्न हो जाता है। उस समय जैसा जान पड़ता है, मानों स्वर्णमय सुमेरु पर्वत के शिखर पर झरने के जल की धवल धारा प्रवाहित हो रही है और उस धारा को नवोदित चन्द्रमा की शुभ्र किरणें और भी धवल बना रही हैं।

कितना सुन्दर और मनोरम वर्णन है। सुमेरु पर्वत का शिखर जैसे ऊँचा होता है, उसी प्रकार भगवान् की काया भी ऊँची अर्थात् पांच सौ धनुष की अवगाहना वाली है। जैसे सुमेरु का शिखर सुनहरी वर्ण का होता है, उसी तरह भगवान् का शरीर भी स्वर्ण के समान गौर और दीप्तिमान है। जैसे सुमेरुतट पर झरने की धारा श्वेत वर्ण की होती है, ठीक उसी प्रकार देवों द्वारा ढोंजे जाने वाले चामर भी श्वेत वर्ण के होते हैं। अगर वारिधारा पर चन्द्रमा की किरणें गिर रही हों तो वह और भी अधिक श्वेत दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार वे चामर भी बहुत श्वेत होते हैं, मानों कुन्द के फूल हों।

ऐसी असाधारण लौकिक एवं लोकोत्तर महिमा से मंडित आदिदेव नाभिनन्दन भगवान् ऋषभदेव को सर्व प्रथम प्रणाम करना चाहिए।

भाइयों! तीर्थंकर भगवान् को जो वैभव प्राप्त होता है, वह उनके अनेक पूर्वभवों में उपार्जन किये हुए तीव्रतम पुण्य का फल है। एक समय उनकी आत्मा भी हमारे-आपके आत्मा के समान ही थी। किन्तु उन्होंने पुरुषार्थ करके, धर्म का आचरण करके, धीरे-धीरे कर्मों की प्रबलता को कम किया। कर्मों की

प्रबलता जैसे-जैसे कम होती गई वैसे-वैसे आत्मा की शक्ति बढ़ी। जैसे-जैसे आत्मा की शक्ति का विकास हुआ, वैसे-वैसे विकार क्षीण होते चले गये। इस प्रकार कई जन्मों तक यह चक्र चलता रहा। अन्त में वह जन्म-जन्मान्तर का पावन अनुष्ठान परिपाक को प्राप्त हुआ और तीर्थंकर नामकर्म उदय में आया। उसके महान् फलस्वरूप भगवान् को उस वैभव की प्राप्ति हुई।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि यह वैभव भगवान् ऋषभदेव का बतलाया गया है, तथापि अन्य तीर्थंकरों का वैभव भी इसी प्रकार का होता है। न इससे कम, न इससे अधिक। इसका कारण यही है कि समस्त तीर्थंकर समान पुण्य के अधिकारी होते हैं।

यद्यपि तीर्थंकर भगवान् के बाह्य वैभव का वर्णन किया जाता है, तथापि पूर्णरूपेण वर्णन करना मनुष्य की शक्ति से परे है। और जब भौतिक वैभव का ही पूरा वर्णन नहीं हो सकता तो आन्तरिक वैभव के विषय में तो कहना ही क्या है! वह बाह्य वैभव से अनन्त गुणा है और अनन्तगुणा सूक्ष्म भी है। उसको पूरी तरह प्रकाशित करने की क्षमता स्वयं तीर्थंकर भगवान् में भी नहीं है। वे अनन्त ज्ञानी होने के कारण उसे जानते तो हैं, मगर शब्द परिमित होने से और स्थूल होने से उसे व्यक्त नहीं कर पाते।

भाइयो! तीर्थंकर के वैभव को प्राप्त करना आपके लिए भी असंभव नहीं है। परन्तु जब तक आप आत्मिक विकारों के अधीन रहेंगे तब तक उस वैभव को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। उसे प्राप्त करने का मार्ग है भगवान् के द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना।

नदियां बहती थीं। भगवान् के श्रावकों का वृत्तान्त पढ़ने से जान पड़ता है कि उस समय गृहस्थ अपनी-अपनी सम्पत्ति के अनुपात में गायों का पालन किया करते थे। चुलनीपिता के पास आठ करोड़ मोहरें खजाने में रहती थीं, आठ करोड़ से वह व्यापार करता था और आठ करोड़ घर के सामान में लगी थीं। इसी हिसाब से उसके यहां आठ गोकुल थे। एक गोकुल में दश हजार गायें होती थीं, अतएव उस के यहां अस्सी हजार गायें रहती थीं।

जब एक गृहस्थ के घर में अस्सी हजार गायें थीं तो दूसरों के यहां भी उसी परिमाण में होना संभव है। ऐसी स्थिति में अगर घी-दूध की नदियां नहीं बहेंगी तो क्या होगा?

घी-दूध की प्रचुरता होने से उस समय के लोग स्वस्थ, नीरोग और दीर्घायु होते थे। इसके सिवाय इन पदार्थों से उन्हें इतनी जीवनी-शक्ति मिल जाती थी कि आज की तरह उन्हें अण्डा मछली आदि अभक्ष्य और घोर पाप जनक चीजों का उपयोग करने का विचार भी नहीं आता था।

चुलनीपिता ने श्रमण भगवान् महावीर के निकट श्रावक-धर्म अंगीकार किया था,। श्रावकधर्म पालते-पालते जब उसका बुढ़ापा आया तो विशेष रूप से धर्म पालने की इच्छा हुई।

प्राचीन काल के लोगों का जीवन बहुत सन्तुलित था। वे अपने जीवन का अन्तिम काल विशिष्ट धर्माराधना में व्यतीत करते थे। गृहस्थी सम्बन्धी कार्यभार अपनी सन्तान को सिपुर्द करके वे निवृत्ति ग्रहण करते थे।

सन्तान प्राप्ति को लोग आज भी अहोभाग्य मानते हैं और जिसके सन्तान नहीं होती, वह अपने को अभागा समझता है। परन्तु आज लोग इस तथ्य को भूल-सा गये हैं कि आखिर सन्तानप्राप्ति का सबसे बड़ा लाभ क्या है? जिनके सन्तान नहीं है वे भी जीवन की अन्तिम घड़ी तक दुनियादारी में फँसे रहते हैं और जिनके सन्तान है वे भी आखिरी दम तक गार्हस्थिक झंझटों में उलझे रहते हैं। जब ऐसी बात हो तो सन्तान के होने और न होने में अन्तर ही क्या रहा? सन्तान का सबसे बड़ा लाभ तो यही है कि मनुष्य अपने अन्तिम जीवन में गृहस्थी का कार्य-भार उसे सौंप कर निवृत्ति ग्रहण करे और निश्चिन्त तथा निरा-कुल होकर धर्म की आराधना करे और जीवन का सर्वोत्तम लाभ प्राप्त करे।

आदर्श श्रावक चुलनीपिता ने ऐसा ही किया। एक दिन अपने स्वजनों, परिजनों तथा सम्बन्धीजनों को आमन्त्रित करके, सबका भोजनादि से सत्कार करके अपने ज्येष्ठ पुत्र को बुलाया। सबके सामने निवृत्ति ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। तत्पश्चात् पाकयशा सबके सामने अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपनी गद्दी संभला दी। चुलनीपिता उसी समय पौषधशाला में चला गया और संसार-व्यवहार से विमुक्त होकर धर्म की आराधना करने लगा।

एक बार चुलनीपिता पौषधव्रत अंगीकार करके धर्मध्यान कर रहा था कि रात्रि का आधा भाग बीत जाने पर एक देव उसके पास आया। हाथ में डरावनी तलवार लेकर उसने धमकी दी—'चुलनीपिता, अपने व्रत को भंग कर दे, अन्यथा मैं तेरे बड़े लड़के को इस तलवार से टुकड़े-टुकड़े कर दूंगा।'

इस धमकी को सुनकर चुलनीपिता शान्त और ध्यानमग्न बना रहा। देवता ने बड़े लड़के को मार डाला। इसी प्रकार वार-वार धमकियां देकर मँझले और छोटे लड़के को भी तलवार के घाट उतार दिया। फिर भी व्रतवीर चुलनीपिता ने अपने व्रत को भंग नहीं किया।

अन्त में देवता ने उसकी माता को मार डालने की धमकी दी। यह धमकी सुन कर चुलनीपिता का चित्त चलायमान हुआ। उसने विचार किया—यह कोई अनार्य पुरुष दिखाई देता है। तीनों पुत्रों को मार डालने के बाद यह मेरी देवतास्वरूप माता को भी मारने की धमकी दे रहा है। इसको पकड़ लेना उचित होगा।

इस प्रकार सोच कर चुलनीपिता उसे पकड़ने दौड़ा। मगर देव सहसा आकाश में उड़ गया और एक खम्भा चुलनीपिता के हाथ में आया। उसे पकड़ कर वह कोलाहल करने लगा।

उसका कोलाहल उसकी माता भद्रा के कानों में पड़ा। वह चुलनीपिता के पास आई और पूछा—वत्स, यह कोलाहल क्यों कर रहे हो ?

चुलनीपिता ने आद्योपान्त्य सारा वृत्तान्त माता को सुनाया। तब माता ने कहा—पुत्र, तुमने जो कुछ देखा है, वह अयथार्थ है। किसी भी पुत्र का कुछ भी नहीं बिगड़ा है। यह सब भ्रमजाल है, दैवी माया है। तुम्हारे तीनों पुत्र घर में सो रहे हैं। तू ने व्रत में क्रोध किया है, उस पुरुष को दण्ड देने का विचार किया है, अयतना के साथ दौड़ा है, इस कारण तेरे व्रत में दोष लगा है। इस दोष का प्रायश्चित लेकर शुद्धि करो।

चुलनीपिता ने माता की बात स्वीकार करके दोष की आलोचना की, प्रायश्चित लिया और व्रत में आई हुई मलीनता को दूर कर दिया।

पौषधव्रत में कितनी दृढ़ता धारण करनी चाहिए, यह बतलाने के लिए यह उदाहरण आपके सामने रक्खा गया है। श्रीउपासदशांग सूत्र में इस कथानक का विस्तार से वर्णन किया गया है। चुलनीपिता कोई साधु-महात्मा नहीं था। वह श्रावक था और आप लोग भी श्रावक कहलाते हो। जरा उसके साथ अपनी तुलना करो। उसके और आपके जीवन में कितना अन्तर है ?

पहले के आनन्द कामदेव आदि श्रावक जब गृहस्थी में थे, तब भी प्रतिमास छह-छह पौषधोपवास किया करते थे।

भाइयो ! आपकी आत्मा बहुत कमजोर हो गई है। इसकी कमजोरी दूर करने के लिए और इसे पुष्ट बनाने के लिए पौषध-व्रत अत्यन्त उपयोगी है।

आत्मा जब कमजोर हो जाती है तो अष्ट कर्म रूपी बीमारियां उसे घेर लेती हैं और सैंकड़ों भवों तक भी फिर पिण्ड नहीं छोड़तीं। अतएव इस अमूल्य नरजन्म रूपी रत्न को व्यर्थ नष्ट न करो। जिस प्रकार शरीर को अच्छे से अच्छे पौष्टिक पदार्थ खिला कर मजबूत बनाते हो, उसी प्रकार उपवास-पौषध करके निर्बल आत्मा को भी पुष्ट बनाना चाहिए।

जो मनुष्य प्रमाद में, विषाय-कषायों के सेवन में या भोगोपभोगों के चक्कर में पड़ा रह कर जीवन को यों ही नष्ट कर

देता है, उसे आगे जाकर अत्यन्त भीषण दुःख और सन्ताप का भाजन बनना पड़ता है। जब वह नरक का अतिथि बनता है तो असह्य और अनिर्वचनीय वेदनाएँ सहन करता है, छटपटाता है और पछताता है कि—हाय मैंने यों ही समय गँवा दिया और उत्तम मनुष्यभव का कुछ भी लाभ नहीं उठाया। इस प्रकार की परिस्थिति न आने देने में ही बुद्धिमत्ता है। यही विवेक का सार है। अतएव पहले ही सावधान हो जाना चाहिए और यथाशक्ति पौषधव्रत का अनुष्ठान करना चाहिए।

खाना-पीना तो हमेशा ही है। इसमें मनुष्य की कोई विशेषता नहीं है। जानवर भी खाते-पीते हैं और कीड़े-मकोड़े भी खाते-पीते हैं। मनुष्य की विशेषता तो उपवास करके धर्माचरण करने में है।

उपवास का अर्थ सिर्फ आहार-पानी का त्याग कर देना नहीं है। कहा है—

कषाय विषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः, शेषं लङ्घनकं विदुः॥

अर्थात्—कषायों का, इन्द्रियों के विषयों का और आहार का त्याग करना उपवास है। जब आहार का त्याग करके भी कषाय और इन्द्रियविषयों का त्याग नहीं किया जाता तो वह उपवास नहीं कहलाता। वह तो सिर्फ लंघन करना ही है।

भाद्रपद मास में, भैंसों को जंगल में खूब हरी-हरी घास चरने को मिलती है और पास ही के पानी से भरे खड्डे में पड़ी

पड़ी तड़पाया करती हैं। इसी प्रकार संसारी लोग खा-पी कर गादी-तकिया के सहारे पड़ जाते हैं और फिर बादी बढ जाने से किसी काम के नहीं रहते। शरीर मोटा होता जाता है और आत्मा दुर्बल होती जाती है।

आत्मा को पुष्टि प्रदान करने वाली खुराक है तपस्या, दान, संयम, शील आदि। इनका सेवन करने से आत्मिक बल की वृद्धि होती है।

देखो, यदि आठ कर्मों का कर्ज आत्मा पर अधिक बढ़ गया तो चुकाना असंभव हो जाएगा। तपस्या से कर्म-मैल दूर होता है और जिसकी इच्छा वर्षों से करते चले आ रहे हो और उसकी पूर्त्ति नहीं होती है, वह भी अनायास ही पूरी हो जाती है। तपश्चर्या के प्रभाव से असंभव प्रतीत होने वाला कार्य भी संभव हो जाता है। 'इस हाथ दे उस हाथ ले' वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है।

देखो, एक बार श्रेणिक महाराज की रानी धारिणी को ऐसा दोहला उत्पन्न हुआ जिसकी पूर्ति होना संभव नहीं जान पड़ता था। मेघकुमार धारिणी के गर्भ में थे। महारानी को बेमौसिम के मेघों का दोहला हुआ। रंग बिरंगे मेघ आकाश में छाये हुए हों, बिजली चमक रही हो और बूंदाबांदी हो रही हो। वर्षा ऋतु का सारा का सारा दृश्य उपस्थित हो। ऐसे समय में महाराज श्रेणिक के साथ सैर करें। आप विचार करें कि असमय में ऐसा दृश्य कौन उपस्थित कर सकता है? श्रेणिक बड़े भारी सम्राट् थे और सैकड़ों राजा उनकी हाजिरी में रहते थे। मगध की प्रजा उन्हें हार्दिक प्रेम करती थी। मगर प्रकृति पर तो उनका

अधिकार नहीं था। वह बादल नहीं बना सकते थे। बिजली नहीं चमका सकते थे। उधर इच्छा की पूर्त्ति न होने के कारण धारिणी बहुत खिन्न थीं, अत्यन्त उदास। गर्भ पर भी उसका बुरा प्रभाव पड़ सकता था। मगर कोई उपाय न था। अतएव राजा श्रेणिक भी महारानी की सहानुभूति में उदास और खिन्न हो रहे थे।

प्राचीन काल में भारत की पारिवारिक व्यवस्था बहुत उत्तम थी। यद्यपि आजकल भी यहां की कुटुम्ब प्रथा संसार में सब से अच्छी समझी जाती है, लेकिन पहले तो और भी उत्तम थी। परिवार के सब लोग एक दूसरे के प्रति यथोचित सद्व्यवहार करते थे। छोटों का बड़ों के प्रति सन्मान का भाव था और बड़ों का छोटों के प्रति स्नेह और वात्सल्य आदर्श था। पुत्र प्राति-दिन प्रातःकाल पिता के चरणों में प्रणाम किया करते थे और पिता पुत्र को शुभाशीर्वाद देकर अनुगृहीत करते थे। इस प्रकार अपना-अपना कर्त्तव्य पालने के कारण परिवार में प्रेम का निर्मल झरना बहा करता था।

अभयकुमार, जिसकी बुद्धिमता और चतुराई आज तक आश्चर्यजनक प्रतीत होती है, अपने पिता श्रेणिक की चरण-वन्दना के लिए गये। पिता को अन्यमनस्क चिन्तातुर देखकर कारण पूछा। जब श्रेणिक महाराज ने अपनी चिन्ता का कारण बतलाया, तब अभयकुमार को तपस्या की याद आई। उसने सोचा—माता का दोहला तपस्या के द्वारा ही पूरा हो सकता है, उसके पूर्ण करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। तपश्चर्या से आकृष्ठ हुए देवता के द्वारा सहज ही, मनुष्य के लिए असंभव यह कार्य सिद्ध हो जाएगा।

अभयकुमार पौषधशाला में गये। अष्टमभक्त की तपस्या करके धर्मध्यान करने लगे। तपस्या के प्रभाव से देव खिंचा आया और उसकी शक्ति से महारानी धारिणी की कामना सिद्ध हो गई।

भाइयो! इस दोहद का पूर्ण होना असंभव जान पड़ता था मगर वह भी तपश्चरण की शक्ति से पूर्ण हो गया। यह है पौषध तप का प्रभाव। निश्चय समझो कि तपस्या की बदौलत असंभव कार्य भी सुसंभव हो जाते हैं।

एक भाई मेरे पास आये और कहने लगे–उपवास, पौषध, सामायिक, व्रत, नियम आदि में क्या धरा है?

मैंने कहा—इसके लिए तो मैं प्रमाण दूंगा ही, मगर पहले तुम यह बतलाओ कि तुम्हारे बकने में क्या धरा है?

यह सुनकर वह भाई हँसने लगा! मैंने उसे समझाने का प्रयत्न किया।

देखो, तपस्या से होने वाले आध्यात्मिक लाभ की बात यदि रहने भी दी जाय और लौकिक लाभों पर विचार किया जाय तो भी अनेक लाभ प्रतीत होने लगेंगे। तपस्या करने से नाना प्रकार की पुरानी बीमारियां भी प्रायः नष्ट हो जाती हैं। आज विलायत में भी उपवास द्वारा भयंकर रोग दूर किये जाते हैं। तपस्या से शारीरिक और मानसिक चिन्ताएँ मिट जाती हैं। तपस्या के प्रबल आकर्षण से देवता भी आकर उपस्थित हो जाते हैं और मनोवांछित वस्तु प्रदान करते हैं?

जब श्रीकृष्ण महाराज ने तीन दिन का उपवास किया और देवता को याद किया तो वह एकदम सेवा में उपस्थित हुआ और

हाथ जोड़ कर निवेदन करने लगा क्या आज्ञा है ?

श्रीकृष्ण ने कहा—हमें रहने को स्थान दो।

उसी समय देव सक्रेन्द्र महाराज के पास गया और कुवेर को लाकर रातोंरात बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी द्वारिकानगरी का निर्माण कर दिया। सभी यादवों के लिए सात-सात मंजिल के महल बनाये। सोने का कोट और रत्नों के कंगूरे बनाये।

यह है तपस्या का परिणाम।

भरत चक्रवर्त्ती को जो चक्ररत्न, छत्ररत्न, खड्ग रत्न आदि चौदह रत्न और नौ निधान प्राप्त हुए और षट् खण्ड के विशाल साम्राज्य का अधिपतित्व प्राप्त हुआ, वह सब तपस्या का ही प्रभाव था। उन्होंने पूर्व जन्म में खूब शुद्ध भाव से तपस्या की थी। तपस्या की ज्वाला में समस्त पापों का कचरा भस्म हो जाता है।

तप करना ही मुक्ति का जाना है,
इसे धारे से शिवपुर ठिकाना है ॥ टेक ॥
आत्मा और कर्म का सम्बन्ध खीर नीर।
निज स्वरूप को संभाले कहलावे धर्मवीर ॥
पुनः निर्जरा से कर्म खपाता है ॥१॥

और भी कहा है—

तप बड़ो रे संसार में,
तपस्या तो कीधी श्री महावीर, किया कर्म चकचूर ॥

भगवान् महावीर राजपुत्र होते हुए भी कितने उग्र तपस्वी थे। उन्होंने छह-छह मास की उग्र तपस्या की। वे चार ज्ञान के धनी थे और अच्छी तरह जानते थे कि मैं मोक्षगामी हूँ, किन्तु यह भी जानते थे कि तपस्या के बिना कर्म चकचूर नहीं होंगे। इस कारण उन्होंने तपस्या की और ऐसी तपस्या की कि उसका वर्णन सुनने मात्र से भी साधारण जनों के रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

धन्ना कुमार कितने बड़े ऋद्धिमान् सेठ के लड़के थे? उनके विवाह में बत्तीस करोड़ स्वर्णमोहरें तथा अन्य वस्तुएँ दहेज में आई थीं। मगर महावीर प्रभु के उपदेश ने उनके हृदय में वह असर पैदा किया कि स्त्रियों का और प्रभूत धन-दौलत का त्याग करके अनगार बन गये। और उग्र तपस्या करके केवल नौ महीने में कर्म बेड़ी को काटकर सर्वार्थसिद्ध विमान में दाखिल हो गये।

तपस्या करने से इन्द्रियों का दमन होता है। इन्द्रिय-दमन से मन नियन्त्रण में आता है और जब मन पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है तो अशुभ कर्मों का बंध रुक जाता है, क्योंकि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।

यह मन ही कर्मबंध और कर्ममोक्ष का प्रधान कारण है। शरीर से पापक्रिया न करने पर भी मन से पाप करने वाला जीव सातवें नरक तक जा सकता है। इससे यह बात भलीभांति समझ में आ जानी चाहिए कि मन की शक्ति कितनी प्रबल है?

मुमुक्षु जीवों को तपस्या अवश्य करनी चाहिए। तपस्या से जन्म-जन्मान्तर की फेरी टल जाती है।

अनेक लोग तपस्या की शक्ति में सन्देह करते और कहते हैं—जो विकार हैं वे आत्मा में है। शरीर जड़ है, उसमें राग द्वेष आदि विकारों का होना संभव नहीं है। यह विकारशरीर की नहीं वरन् आत्मा की अशुद्ध परिणति हैं, वैभाविक भाव हैं। अतएव शरीर को कष्ट देने से क्या लाभ है ? उसे कष्ट देने से आत्मा की शुद्धि कैसे हो सकती है ?

इस प्रकार का तर्क गम्भीर विचारणा न करने का ही फल है। आपको घी गर्म करना है, उसे शुद्ध बनाना है और उसमें मिला छाछ अलग करना है तो आप क्या करेंगे ? घी को आग पर रक्खेंगे या घी के पात्र को ? आप घी के पात्र को ही तपाते हैं और ऐसा करने से घी तप जाता है। इसी प्रकार शरीर को तपाने से उसमें स्थित आत्मा शुद्ध होता है।

आप घी के पात्र को चूल्हे पर चढ़ाते हैं और जब आंच लगती है तो घी पिघल जाता है और नकली वस्तु-मैल जल जाता है। इसी प्रकार आत्मा में जो कर्ममैल है, उसे दूर करने के लिए तपस्या रूपी आग का उपयोग करना पड़ता है और तब कहीं इस आत्मा की विशुद्धि होती है।

तपश्चरण कर्मनिर्जरा का असाधारण कारण है। आगम में कहा है—

तवसा धुणइ कम्मरयं ।

अर्थात् तपस्या से कर्म रूपी रज का विनाश होता है। तत्त्वार्थसूत्र में भी कहा है—'तपसा निर्जरा च।' अर्थात् तप से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है।

संवर और निरजरा ही मोक्ष के साधन हैं, क्योंकि कर्मों

का सर्वथा क्षय होना मोक्ष है और सर्वथा क्षय के लिए पुराने कर्मों की निर्जरा होना और नवीन कर्मों का रुक जाना आवश्यक है। जिस सरोवर में से पानी क्षीण होता जाता है और नवीन पानी की आय नहीं होती, वह एक दिन पूरी तरह खाली हो जाता है। इसी प्रकार संवर और निर्जरा के द्वारा ही आत्मा मुक्ति दशा प्राप्त करता है और तपस्या के द्वारा संवर और निर्जरा की प्राप्ति होती है।

यों तो प्रत्येक संसारी जीव प्रतिसमय निर्जरा करता रहता है; परन्तु ज्ञानी और अज्ञानी की निर्जरा में भेद होता है। अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षों में जितनी निर्जरा करता है, ज्ञानी क्षण भर में उतने कर्मों का क्षय कर लेता है। अतएव यह आवश्यक है कि तपस्वी होने से पहले ज्ञान की प्राप्ति की जाय।

यत् किंचित् त्रिषु लोकेषु, प्रार्थयन्ति नराः सुखम् ।
तत्सर्वं तपसा साध्यं, तपो हि दूरतिक्रमम् ॥

इस अखिल जगत् के जीव जिस सुख की कामना करते हैं, वह सब तपस्या के द्वारा ही प्राप्त होता है। तप की शक्ति इतनी प्रबल है कि उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।

अरिहन्त भगवान् ने तपश्चर्या दो प्रकार की कही है-बाह्य और आभ्यन्तर, अनशन, अनोदरी आदि छह प्रकार की बाह्य तपस्या है और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य (सेवा), स्वाध्याय व्युत्सर्ग एवं ध्यान, यह छह प्रकार की आभ्यन्तर तपस्या है। आभ्यन्तर तपस्या की साधना के लिए बाह्य तपस्या भी परमोपयोगी है। जब भव्य प्राणी शुद्ध भाव से, आत्म कल्याण

के हेतु, बाह्य और आभ्यन्तर तप का आराधन करता है, तब उसके कर्म उसी प्रकार दग्ध हो जाते हैं, जैसे आग के द्वारा स्वर्ण का मैल। अतएव तपस्या अवश्य करनी चाहिए और अपनी शक्ति का गोपन न करके करनी चाहिए।

जब ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप का संयोग होता है और चारों चीजें आत्मा का मिल जाती हैं, तो बेड़ा पार हो जाता है। जन्म-मरण का चक्कर सदा के लिए समाप्त हो जाता है। अतएव, भाइयों! अगर अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहते हो तो शुद्ध भाव से तपस्या करो। तपस्या करोगे तो आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

ब्यावर
१-८-४१



चरम-साधना



स्तुतिः—

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
बिम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

प्रभो ! जब आप एक स्थान से दूसरे स्थान को बिहार करते हैं, ग्रामानुग्राम विचरते हैं, तो देवता सिंहासन लेकर आपके साथ २ चलते हैं। यह भी तीर्थंकर भगवान् का एक अतिशय है।

भगवान् ऋषभदेव जब उस सुररचित सिंहासन पर आसीन होते थे तो एक अपूर्व मनोहर दृश्य दृष्टिगोचर होता था। मणियों की किरणों से चित्र-विचित्र उस अद्भुत सिंहासन पर, कनक के समान कमनीय भगवान् का तन ऐसा जान पड़ता था जैसे उदयाचल पर सूर्य का बिम्ब हो, जिसमें विद्युत् का विलास हो रहा हो अर्थात् बिजली चमक रही हो।

भाइयो ! जगत् में जिन २ जीवों को इष्ट, कान्त, प्रिय, मनोज्ञ और मनोरम पदार्थों की प्राप्ति होती है, उन्होंने निश्चय ही किसी समय शुभ कर्म करके पुण्य का उपार्जन किया है। पुण्य के बिना किसी को कभी इष्ट पदार्थों का समागम नहीं होता। संसार के समस्त सुख पुण्य की देन हैं। जो जैसा पुण्य उपार्जन करता है, उसे वैसे ही फल की प्राप्ति होती है। जैसा बीज होगा वैसा ही फल उगेगा। इस बात को जानते हुए भी लोग गफलत करते हैं। वे सुख तो चाहते हैं, मगर उसे पाने के लिए पुण्य का सेवन नहीं करते। यही नहीं, अधिकांश लोग तो इष्ट पदार्थों को प्राप्त करने के लिए और उनसे सुख का अनुभव करने के लिए उलटा पाप का आश्रय लेते हैं। वे समझते हैं कि दूसरों का गला काटने से, झूठ बोलने से, चोरी करने से, परस्त्री का सेवन करने से और परिग्रह का अधिक से अधिक संचय करने से ही हमें सुख मिलेगा ! परन्तु यह धारणा भ्रमणा मात्र है। आग जैसे शीतलता प्रदान नहीं कर सकती और पानी जैसे उष्णता नहीं दे सकता, क्योंकि यह बात उनके स्वभाव के विपरीत है इसी प्रकार पाप से इष्ट पदार्थों की और सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। पाप का स्वभाव अनिष्ट पदार्थों का ही संयोग

कराने का है। उसके स्वभाव से विरुद्ध आपको आशा नहीं रखनी चाहिए।

जो मनुष्य इस तथ्य को सम्यक् प्रकार से समझ लेगा, वह सुखी बनने के लिए कदापि पाप का आश्रय नहीं लेगा, क्योंकि पाप सुखविघातक है, सुखजनक नहीं है। कहा भी है—

पुण्यमेव भवमर्मदारणं, पुण्यमेव शिवशर्मकारणम्।
पुण्यमेव हि विपत्तिशामनं, पुण्यमेव जगदेकशासनम्॥

अर्थात् - पुण्य ही जन्म-मरण रूप भव के मर्म का विदारण करने वाला है। पुण्य से ही मोक्ष के अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। पुण्य ही समस्त विपदाओं को शान्त करने वाला है और पुण्य ही जगत् में एक मात्र शासन करने वाला है।

जब ऐसी बात है तो सुखी बनने के लिए क्यों पाप क आचरण करते हो? क्या दीर्घजीवी होने की अभिलाषा की पूर्ति के लिए कोई विवेकवान् पुरुष विष का भक्षण करता है? अगर करता है तो उसे विवेकी नहीं कहा जा सकता। वह महामूढ़ ही कहलाएगा। इसी प्रकार सुखी बनने के लिए पापाचरण करने वाला मनुष्य भी महामूढ़ है।

पुण्यशाली थे धन्ना सेठ! वैभव उनके चरणों में लोटता था। लक्ष्मी उनके चरण चूमती थी। वे लक्ष्मी को ठुकरा कर एक जगह से दूसरी जगह खाली हाथ चल देते थे, परन्तु लक्ष्मी उनका पीछा नहीं छोड़ती थी। जहां जाते थे, वहां लक्ष्मी सेवा में उपस्थित हो जाती थी। धन्नाजी के चरित को आपने सुना होगा

फिर भी आश्चर्य की बात है कि आपको सत्य का ज्ञान नहीं होता और आप लक्ष्मी को पाने के लिए भी पाप का आश्रय लेते हैं।

हां, तो अभिप्राय यही है कि संसार के उत्तम से उत्तम पदार्थ पुण्य के उदय से प्राप्त होते हैं। तीर्थंकर भगवन्त ने अनेक भवों में जो पुण्य उपार्जित किया, उसके परिपाक से उन्हें अष्ट महाप्रातिहार्यों की प्राप्ति हुई। ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा वार-वार नमस्कार है।

भाइयो! श्रीमत् ठाणांगसूत्र से भगवान् ने फर्माया है कि हे जगत् के के जीवो! यदि आप सुखी होना चाहते हो तो अन्त समय में शुद्ध भावना रखते हुए मृत्यु को वरण करो। यह तो नादान से नादान मनुष्य भी समझता है कि जिसने जन्म लिया है, उसका मरण होना निश्चित है। मरने के बाद जन्म हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता, मगर जन्म लेने वाले की मृत्यु अनिवार्य है। कोई भी उपाय मौत को रोक नहीं सकता। देवी-देवता की शरण लो, सेना या धन आदि का आश्रय लो अथवा अन्य कोई उपाय कर लो, परन्तु मृत्यु टल नहीं सकती।

दल बल देवी देवता, मात पिता परिवार।
मरती विरियां जीव को, कोई व राखनहार॥

जब मौत आती है तो मरने वाले की रक्षा कोई नहीं कर सकता। सब टुकुर-टुकुर देखते रह जाते हैं या रोते-कलपते रह जाते हैं, किसी का कोई उपाय काम नहीं आता।

अम्बर में पाताललोक में, या समुद्र गहरे में,
इन्द्रभवन में शैलगुफा में सेना के पहरे में।

वज्रविनिर्मित गढ़ में या अन्यत्र कहीं छिप जाना,
पर भाई ! यम के फंदे में, अन्त पड़ेगा आना ॥

× × × ×

भरतखण्ड के अधिपति चक्री कितने भू पर आये,
वासुदेव बलदेव काल के भीषण उदर समाये,
प्रबल शक्तिसम्पन्न सैन्य उनका सा और कहां है ?
किन्तु धरातल पर क्या उनका नाम-निशान रहा है ?॥

क्या आप किसी ऐसे मनुष्य को जानते हैं जो इस धरती पर जन्म लेकर और फिर अमर हो कर रह गया हो ? अगर खोज करोगे तो क्या ऐसे मनुष्य को पा सकोगे ? नहीं, नहीं पा सकते, क्योंकि ऐसा होना असंभव है।

तो यह बात निश्चित है कि जन्मे की मृत्यु अनिवार्य है। जब मरना अवश्य है तो फिर कायरतापूर्वक मरना चाहिए या वीरतापूर्वक ? याद रक्खो कि कायरतापूर्वक मरने वाले को भविष्य में बार-बार मरना पड़ता है। उसकी मृत्यु का अन्त नहीं होता किन्तु वीरतापूर्वक अर्थात् समभाव से, निर्भीक भाव से, मरने वाला जन्म मरण की परम्परा का कभी न कभी अन्त कर देने में समर्थ हो जाता है। अतएव वीरतापूर्वक ही मरना चाहिए। कायरता का अर्थ है—मृत्यु की कल्पना से अथवा मृत्युसन्निकट आने पर चल-विचल होना, दीन बन जाना, आंसू बहाना, आर्त्त-ध्यान करना, हाय-हाय करना, भयभीत होना, धन-जन के वियोग का विचार करके दुखी होना, पर-पदार्थों में ममता बनी रहना या शरीर के विछोह के विचार से व्याकुल होना।

इस प्रकार की कायरता से मृत्यु का समय बहुत दुःखमय बन जाता है. चित्त अशान्त हो जाता है और परभव बिगड़ जाता है। देखो, नन्दन मणियार सेठ ने परोपकार के अनेक कार्य किये थे, मगर मरते समय बावड़ी के प्रति ममता का भाव रह जाने के कारण उसे उसी बावड़ी में मेंढक का जन्म धारण करना पड़ा।

कई लोग अपने जमीन में गाड़े हुए धन के ऊपर ममता धारण किये हुए मरते हैं और उस ममता के कारण सांप की योनि में जन्म लेते हैं। वे उस धन का न स्वयं उपभोग कर सकते हैं और न दूसरों को करने देते हैं। इस प्रकार अन्तिम समय में मोह-ममता रहने से आगामी जन्म बिगड़ता है। अतएव शुद्ध भावना के साथ शरीर त्याग करना ही उचित है।

समवायांग सूत्र में सत्तरह प्रकार की मृत्यु का कथन किया गया है। यद्यपि साधारणतया शरीरत्याग रूप मरण एक ही प्रकार का है, तथापि उपाधिभेद से और लोगों को सद्बोध कराने के लिए सत्तरह भेदों का जिक्र आया है। वे इस प्रकार हैं:—

(१) आवीचिमरण—जीव ने आयु कर्म के पुद्गलों का-दलिकों का जो ग्रहण किया है, उनमें से समय-समय पर भोगे जाने वाले दलिक अलग होते रहते हैं। वास्तव में आयु के दलिकों का क्षय होना ही मृत्यु है। इस प्रकार क्षण-क्षण में आयु-दलिकों का क्षय रूप जो मरण होता है वह आवीचिमरण कहलाता है।

(२) अवधिमरण—एक बार जो आयु के दलिक भोगकर छोड़ दिये हैं, उन्हें दूसरी बार भोगने से पहले पहले जब तक

जीव उन्हें भोगना आरम्भ नहीं करता, तब तक अवधिमरण कहलाता है।

(३) आत्यन्तिक मरण—आयुकर्म के जिन दलिकों को जीव ने एक वार भोग कर छोड़ दिया है, उन्हें फिर कभी न भोगना आत्यन्तिक मरण है।

(४) वलन्मरण-कई मनुष्य पहले तो संयम अंगीकार कर लेते हैं और महाव्रतों का पालन भी करते हैं, परन्तु कर्मोदय के निमित्त से किसी समय वे संयम से गिर जाते हैं। इस प्रकार संयम से गिरते हुए मृत्यु होना वलन्मरण कहलाता है।

(५) वशार्त्तमरण—इन्द्रियों के विषयों में आसक्त रहते मरना वशार्त्तमरण है।

(६) अन्तःशल्यमरण—साधक को कभी किसी प्रकार का दोष लग जाना असंभव नहीं, वरन् लग ही जाता है। जब दोष लग जाता है तो फौरन ही वह उस दोष की आलोचना कर लेता है और शुद्धि कर लेता है। शुद्धि किये बिना उसे उसी प्रकार चैन नहीं मिलता जिस प्रकार कांटा चुभ जाने पर, जब तक वह निकल न जाय, तब तक चैन नहीं मिलता। किन्तु जब कोई साधक दुर्बल हृदय होने के कारण भय अथवा लज्जा से अपने दोषों की आलोचना किये बिना ही मरता है, तब उसका मरण अन्तःशल्यमरण कहलाता है क्योंकि उसके हृदय में दोष रूप शल्य शेष रह जाता है।

(७) तद्भवमरण—तिर्यंच या मनुष्य जब आगे भी तिर्यंच या मनुष्य की आयु बांध कर उस योनि में जन्म लेता और मरता है, तब उसका मरण तद्भव मरण है।

(८) बालमरण—अव्रती अज्ञानी जीवों का मरण।

(९) पण्डितमरण—सर्वसंयम का आचरण करने वाले मुनि का शरीर त्यागना पंडितमरण है।

(१०) बालपण्डितमरण—एक देश संयम का अर्थात् गृहस्थधर्म का आचरण करने वाले श्रावक का मरण।

(११) छद्मस्थमरण—केवलज्ञान प्राप्त किये बिना ही छद्मस्थ अवस्था में शरीर का छूट जाना।

(१२) केवलीमरण—केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् अन्तिमरूप से शरीर का त्याग करना।

(१३) वैहायसमरण—वृक्ष की शाखा आदि से फंदा बाँध कर फांसी लगा कर मर जाना।

(१४) गिद्धपिट्ठमरण—गृद्ध्र या शृगाल आदि मांसाहारी प्राणियों द्वारा खाये जाने से होने वाला मरण। यह मरण दो प्रकार से होता है-शरीर का मांस खाने के निमित्त आये हुए प्राणियों को न रोकने से और गिद्ध आदि के द्वारा खाये जाते हाथी, ऊँट आदि दीर्घकाय जानवरों के कलेवर में प्रवेश करने से।

(१५) भक्तप्रत्याख्यानमरण—जीवन भर के लिए तीन प्रकार के या चारों प्रकार के आहार का त्याग करने से होने वाला मरण।

(१६) इंगितीमरण—जीवन पर्यन्त के लिए चतुर्विध आहार का परित्याग करके,' हिलने-डुलने आदि काय सम्बन्धी चेष्टाओं का आगार रख कर एक स्थान में रहते जो मृत्यु होती है वह।

जो महान् साधक इस मरण को अंगीकार करता है, वह अपने निश्चित स्थान को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाता। हां, अपने स्थान पर आसीन रह कर हाथ-पैर आदि अवयव हिलाने डुलाने का आगार रखता है।

(१७) पादपोपगमनमरण—संलेखना करने के पश्चात्, कटे हुए वृक्ष की शाखा की भांति, समस्त कायिक चेष्टाओं का निरोध करके लेटे रहना और पूर्ण समभाव में स्थित रह कर शरीर त्याग देना।

इनमें से कई मरण एकान्त रूप से प्रशस्त हैं, कई अप्रशस्त हैं और कई विशेष कारण उपस्थित होने पर आपवादिक रूप में प्रशस्त माने गये हैं।

जो मरण समभाव के पोषक हैं अथवा जिनमें समभाव की पूरी तरह रक्षा होती है, वह ज्ञानियों के लिए उपादेय हैं। जो मरण क्रोध के आवेश में आकर या अन्य किसी कषाय से प्रेरित होकर अपनाये जाते हैं, वे अज्ञानमरण हैं, त्याज्य हैं।

समाधिमरण एक प्रकार से अपनी मृत्यु को श्रेयस्कर बनाना है। अन्तिम समय में अपने अध्यवसायों को शुद्ध पवित्र निर्मल और उच्च रखना साधारण बात नहीं है। यह बड़े साहस का काम है। इसमें उन्हीं लोगों को सफलता मिल सकती है, जिनका जीवन पवित्र आचार-विचार में व्यतीत हुआ है। जीवन में जिन्होंने उत्तम संस्कार प्राप्त किये हैं, सम्यक् प्रकार से अपनी आत्मा को भावित किया है, धर्म के रंग में रंगा है, वही मृत्यु को सुधार पाते हैं और वास्तव में उन्हीं का समाधिमरण होता है।

ऐसे वीर पुरुष मृत्युञ्जय कहे जा सकते हैं। मृत्यु उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकती। वे मृत्यु से डरते नहीं है, जिन्हें जीवन का लोभ नहीं और मृत्यु की कामना नहीं. अतएव जिनका समभाव अखण्डित है, उनके लिए मृत्यु एक साधारण-सी चीज है।

मृत्यु के विषय में उनका अभिप्राय दूसरे ही प्रकार का होता है। यथा–

कृमिजालशताकीर्णे, जर्जरे देहपञ्जरे।
भिद्यमाने न भेत्तव्यं, यतस्त्वं ज्ञानविग्रहः॥

अर्थात्—शरीर रूपी यह पींजरा कीड़ों के समूहों–सैंकड़ों समूहों से भरा हुआ है, इसका विनाश होने पर, हे आत्मन्! तुम्हें तनिक भी भय नहीं करना चाहिए। तुम्हारे भय का कोई कारण नहीं है. क्योंकि तुम ज्ञानविग्रह हो। अर्थात् तुम्हारा असली शरीर तो ज्ञान है, हाड़-मांस का यह पुतला जड़ है। इसका चेतन के साथ कोई सरोकार नहीं है। यह नष्ट होता हो तो भले हो, रहता हो तो भले रहे। न इसके रहने में तुझे हर्ष होना चाहिए और न जाने में विषाद होना चाहिए। हे आत्मन्! तुझे समभाव रखना ही उचित है, क्योंकि तेरा ज्ञान शरीर हर हालत में बना ही है।

समाधिमरण अंगीकार करने वाला ज्ञानी सोचता है—हे आत्मन्! तू मृत्यु रुप महोत्सव के अवसर पर क्यों भय करता है? कोई पुरुष जीर्ण कुटीर में से निकल कर किसी नवीन और सुन्दर महल में जाता है तो उत्सव मनाता है। तेरे लिए भी यह उत्सव का समय है। तू इस जीर्ण काम-कुटीर को त्यागकर नवीन

शरीर रूपी सदन में प्रवेश करने जा रहा है। इसमें शोक या विषाद का क्या कारण है? अगर तू अपने समभाव से च्युत होकर आर्त्तध्यान के वशीभूत हो जाएगा तो दुर्गति के गर्त्त में गिरेगा और अगर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहेगा तो उत्तम वैक्रिय देह प्राप्त करेगा।

दीर्घ काल तक की हुई तपस्या आदि शुभ कर्मों का फल मृत्यु के पश्चात् ही मिलता है। आत्मन्! तूने छह काय के जीवों को अभयदान दिया है, असत्य, चोरी, कुशील आदि अयोग्य कृत्यों का त्याग करके संतोष धारण किया है और इस प्रकार अपनी आत्मा को भी अभयदान दिया है, उसका फल स्वर्गलोक के सिवाय कहां भोगा जा सकता है? और स्वर्गलोक की प्राप्ति इस मृत्यु-मित्र की सहायता से ही हो सकती है। अतः तुझे मृत्यु-मित्र का स्वागत करना चाहिए। भयभीत नहीं होना चाहिए। यह मृत्यु महान् उपकारक है जो बांधे हुए पुण्य के फल को प्राप्त करने में परम सहायक होती है।

इस प्रकार का पारमार्थिक चिन्तन करके अपनी आत्मा को समाधिभाव में स्थिर रखने वाला महात्मा धन्य होता है। वह परलोक को तो सुधारता ही है, मृत्यु के अवसर पर होने वाले दुःख और शोक से भी बच जाता है। वह बड़ी शान्ति और समता के साथ स्वर्ग के पथ पर प्रयाण करता है।

भगवान् महावीर ने फर्माया है कि यदि जन्म-मरण से छूटकर वास्तविक सुख प्राप्त करना चाहते हो तो अन्तिम समय में संलेखना करो। संलेखना कषाय और शरीर के भेद से दो प्रकार की है। संलेखना में अठारहों पापों का त्याग होना चाहिए

और शुद्ध परमात्म-स्वरूप में तल्लीन रहना चाहिए। प्राणीमात्र से खमतखामणा करना चाहिए।

जब आप किसी राजा-रईस से मुलाकत करने जाते हो तो कितने स्वच्छ होकर जाते हो। तो फिर परमात्मा के दरबार में जाते समय कितनी स्वच्छता की आवश्यकता है? स्वच्छता न होगी तो परमात्मा से मुलाकात होना असंभव है।

जीव की अन्तिम अवस्था सुधर जाय तो आगे की गति भी सुधर जाती है। जब आपने अपने शरीर को खूब मेवा, मिष्टान्न आदि खिला-खिलाकर पुष्ट बनाया है तो अब उससे लाभ भी उठाना चाहिए। जब यह शरीर रहने को नहीं है और जाने को तैयार है तो क्यों नहीं इससे सार हासिल किया जाय? जब यह घर एक दिन खाली करा लिया जायगा तो फिर इसे अपना मानकर क्यों निश्चिन्त बैठे हो?

एक दिन आएगा कि लोग इसे जला देंगे और फिर पछ-ताना शेष रह जाएगा कि—हाय, इसे खूब खिलाया-पिलाया, पुष्ट किया, सिंगार-सजाया, मगर इससे लाभ कुछ नहीं उठा पाया! इस प्रकार पश्चात्ताप करने का अवसर न आवे, इसलिए अन्तिम समय अनशन व्रत धारण करके और कृत पापों की आलोचना करके धर्माराधना करना चाहिए। उस समय विचारना चाहिए कि यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इस शरीर का नहीं हूँ! चरम प्रत्याख्यान के अवसर पर इस प्रकार पूर्ण निर्ममत्वभाव धारण करने से भविष्य मंगलमय बन जाता है।

पांचों पाण्डवों ने पादोपगमन संथारा किया था। जब

पाण्वों ने सुना कि भगवान् नेमिनाथ मोक्ष पधार गये हैं तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप होने लगा कि–हमें भगवान् के दर्शन भी न हो सके। आखिर उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब तो जहां भगवान् हैं वहीं जाकर दर्शन करेंगे। इस प्रकार निश्चय करके उन्होंने उसी दिन यावज्जीवन पादोपगमन संथारा अंगीकार कर लिया। उन्होंने विचार किया–हे आत्मन्! तू इस शरीर से भिन्न है, तेरा स्वरूप निराला है। शरीर जड़ है, अध्रुव है, क्षणभंगुर है, अशुचि है. तू चेतनमय, शाश्वत, सच्चिदानन्दमय परम तत्त्व है। इस शरीर के साथ तेरी कोई समता नहीं है। जैसे मकान में रहने वाला स्वयं मकान नहीं है, किन्तु उससे भिन्न है, उसी प्रकार कर्मोदय से तू इस शरीर में रहता है, मगर तू शरीर नहीं है। जड़ और चेतन में एकता नहीं हो सकती।

इस प्रकार विचार करते पाण्डवों ने जो आराधना की, उसके फलस्वरूप वे केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त करके मोक्ष के भागी हुए।

भगवान् ने फर्माया है–भव्य जीवों! पण्डितमरण का अवलम्बन करने वाला सदा के लिए मरण से मुक्त हो जाता है। उसे केवल एक बार ही मरना पड़ता है, पर बालमरण से मरने वालों को बार-बार मौत का शिकार होना पड़ता है, उनके जन्म-मरण का अन्त नहीं आता।

ज्ञानी पुरुष मरते समय संसार में गृद्ध नहीं होते और अज्ञानी सांसारिक भावना ही रखते हैं।

संसार के सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। 'मृत्यु' यह नाम

ही बड़ा भयानक है! बड़े २ शूरवीर पुरुष भी मृत्यु के नाम मात्र से दहल उठते हैं। कोई भी जीव मरना नहीं चाहता। सभी जीवित रहना चाहते हैं और जीवित रहने के लिए नाना प्रकार के प्रयत्न करते हैं। कोई तावीज बांधता है, कोई भैरूँ-भवानी की शरण लेता है, कोई हकीमों और डाक्टरों के सामने गिड़-गिड़ाता है तो कोई ग्रहों की उपशान्ति करवाता है। मगर अन्त समय कोई उपाय कारगर नहीं होता। काल आता है और चोटी पकड़ कर ले जाता है। उसके सामने न देवी देवता का वश चलता है, न वैद्य-हकीम की हिकमत काम आती है, न पंडितों की पंडिताई सफल होती है और न कुटुम्बी जनों का रोना-बिलपना काम आता है।

काल कहता है--अरे इन्सान! जब मेरे आगे साक्षात इन्द्र की भी नहीं चलती है और उसे भी मेरे अधीन होना पड़ता है तो तेरी क्या बिसात है।

कई लोग कहते हैं-'किसने देखा है परलोक, स्वर्ग और नरक! सब झूठी बातें हैं। खूब खाओ, पीओ और ऐश आराम करो। इसी में सार है। जो भोग लोगे वही तुम्हारा है। मरने के बाद फिर क्या रक्खा है। जो मरा सो सदा के लिए गया।" किन्तु ऐसा कहने वाले अज्ञानी ही मृत्यु के समय पछताते हैं। कहते हैं–हाय, हमने धर्माराधन नहीं किया और भोगविलास में ही सारा जीवन नष्ट कर दिया। अब आगे हमारी क्या हालत होगी?

भाइयों! बुद्धिमान् पुरुष वर्त्तमान में ही भविष्य का विचार करता है और भविष्य को सुधारने का प्रयत्न करता है। ऐसा

करने से उसे ऐन मौके पर पछताना नहीं पड़ता।

आपको बार बार उपदेश दिया जा रहा है, इसीलिए कि आगे पछताना न पड़े। सच तो यह है कि ज्ञानी पुरुषों को अज्ञानियों की विपरीत चेष्टाएँ देख-देख कर दया आती है। वे सोचते हैं-यह बेचारे कल्याण करने का अवसर होने पर भी कल्याण नहीं करते। सब प्रकार के अनुकूल साधन उपस्थित होने पर भी अज्ञान के कारण कुछ भी आत्महित की प्रवृत्ति नहीं करते इनका क्या होगा! कैसे इनकी रक्षा होगी! और इस प्रकार तरस खाकर वे उपदेश करते हैं। अगर ज्ञानियों की शिक्षा मानोगे तो चौरासी के चक्कर का अन्त कर सकोगे, तुम्हारा भवभ्रमण मिट जाएगा। नहीं मानोगे तो जिस प्रकार अनादि काल से चक्कर काट रहे हो और नाना प्रकार की पीड़ाएँ भोग रहे हो, उसी प्रकार अनन्त काल तक चक्कर काटते रहोगे और दुनिया की दारुण व्यथाएँ भोगते रहोगे।

चाहे पापमय जीवन व्यतीत करो, चाहे धर्ममय, मृत्यु अवश्य आएगी—

अजल का क्या भरोसा है, न मालूम कब ले जाएगा?
पड़ा रह जाएगा लश्कर, पकड़ तुझको ले जाएगा॥

भाइयो! मृत्यु का कोई भरोसा नहीं है। उसका कोई निश्चित समय नहीं है। वह किसी भी समय अकस्मात आ दबोचेगी! जब आ दबोचेगी तभी चला जाना पड़ेगा। अतएव यह मत सोचो कि अभी मौज कर लें, फिर धर्म कर लेंगे। सदैव

शुद्ध भावना रक्खो। सदा तैयार रहो। क्षण भर भी प्रमाद में मत पड़ो।

देखो राम, लक्ष्मण, कृष्ण, भीष्म, अर्जुन, युधिष्ठिर, रावण और दूसरे बड़े-बड़े शूरवीर इस दुनियां में न रह सकें तो आप लोगों की क्या बिसात है ? आप किस बल पर मौत से बचने का मंसूबा करते हो ? नहीं भाई ! नहीं बच सकोगे। प्रथम तो आजकल के समय आयु थोड़ी ही होती है, फिर यह भी निश्चित नहीं कि वह यथाकाल भोगी जाएगी। विष, शस्त्र आदि के प्रयोग से वह शीघ्र ही, एक अन्तर्मुहूर्त्त में ही, समाप्त हो सकती है। देखते तो हो न, मनुष्य की जिन्दगी कितनी नाजुक है। चलते-फिरते, बात करते मनुष्य का दम टूट जाता है। हृदय की धड़कन पर टिके हुए इस जीवन पर कितना भरोसा किया जा सकता है ? वह किसी भी समय बंद हो सकती है। कभी भी हार्ट फेल हो सकता है ! किसी भी दुर्घटना से किसी भी क्षण प्राण पखेरू उड़ सकते हैं ! और तुम बेफिक्र हो रहे हो। कुछ सोचते-विचारते नहीं। अपने भविष्य की चिन्ता करते नहीं। तुम्हारी यह लापरवाही देखकर ज्ञानी पुरुषों को आश्चर्ययुक्त खेद होता है।

भाइयो ! अपने जीवन को इस प्रकार संयत बनाओ कि अन्तिम समय में तुम्हें समाधिमरण की प्राप्ति हो सके। जीवन में वैराग्य के संस्कार सुदृढ़ किये होंगे तो अन्त में मृत्यु के समय विरक्तिभाव रहेगा। अगर जीवन में वैराग्य के संस्कारों का बीजारोपण ही न किया तो मृत्यु के समय फल कहां से प्राप्त होगा ?

फिर तो उसी प्रकार हाय-हाय करते मरना पड़ेगा, जिस प्रकार अनादि काल से मरते चले आ रहे हो! ऐसी मृत्यु आगे के लिए भी मृत्यु की परम्परा को बढ़ाने वाली होगी। और यदि जीवन में धर्म एवं वैराग्य की वासना होगी तो आपको समाधि-मरण की प्राप्ति हो सकेगी और उसके फलस्वरूप आपका भविष्य अतीव सुखमय बन जाएगा।

ब्यावर
२-८-४१



उदय और उदय !



स्तुतिः—

उच्चैरशोकतरु संश्रितमुन्मयूख—
माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।
स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानम्,
विम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्त्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

प्रभो ! आप जहां कहीं विराजमान होते हैं, वहीं आपके ऊपर अशोकवृक्ष की छाया रहती है । अशोकवृक्ष का निर्माण भी देव करते हैं । अशोकवृक्ष के नीचे भगवान् का अत्यन्त निर्मल

रूप बड़ा ही सुहावना जान पड़ता है। प्रभु की कंचनवर्णी काया से जो अद्भुत दीप्ति निकलती है, उससे वह सुन्दर, सघन एवं हरा-भरा अशोकवृक्ष और भी अधिक रमणीय दिखाई देने लगता है उस समय ऐसा प्रतीत होता है, मानों विशद एवं उल्लसित होती हुई किरणों से मुक्त तथा अंधकार के समूह को विनष्ट करने वाला सूर्य का बिम्ब मेघों के निकट चमक रहा हो।

अशोकतरु ! कितना सुन्दर और सुहावना नाम है। और जैसा उसका नाम वैसा ही उसका गुण भी है। भगवान् के ऊपर छाया करने वाले अशोकतरु के जो दर्शन कर लेता है, उसका भी शोक दूर हो जाता है। फिर भगवान् के दर्शन की तो बात ही क्या है। जो भव्य जीव भगवान् के दर्शन करते हैं, भगवान् की उपासना करते हैं, उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखते हैं, बहुमान का भाव रखते हैं, वे संसार के समस्त शोक-सन्ताप से रहित होकर सदा के लिए अशोक (शोकहीन) बन जाते हैं।

भगवान् जगत् के समस्त प्रपंचों से निवृत्त हो जाने के कारण स्वय तो अशोक हैं ही, उनके सेवक-भक्त भी अशोक बन जाते हैं। मानों इसी स्पृहणीय तथ्य को अशोक वृक्ष सूचित करता है।

वास्तव में अपरिमित पुण्यराशि भगवान् तीर्थंकर जन्म से लगाकर निर्वाणपर्यन्त संसार के जीवों को प्रत्यक्ष रूप से सुख प्रदान करते रहते हैं और जब निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं, तब भी परोक्ष रूप से जीवों के कल्याण के कारण बनते हैं।

जब तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता है तो सम्पूर्ण लोक में अनुपम प्रकाश फैल जाता है। नरकलोक भी एक वार आलोक-पूर्ण हो उठता है, जहां निरन्तर घोरतर अंधकार व्याप्त रहता है। नरक में प्रकाश होना एक अद्भुत और असाधारण घटना है। उस प्रकाश को देखकर वहां रहने वाले और नारक जीवों को अतिशय पीड़ा पहुँचाने वाले परमाधामी देव चकित हो जाते हैं। जब वे अपने अवधिज्ञान का प्रयोग करके जानते हैं कि तीर्थंकर भगवान् का जन्म हुआ है, तो वे भी अपनी क्रूरवृत्ति को थोड़ी देर के लिए संयत कर लेते हैं और नारकों को दुःख देना बंद कर देते हैं। इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् नरक के जीवों को भी 'अशोक' बनाते हैं।

महापुरुषों का समस्त जीवन ही इस प्रकार का होता है। बाद में तीर्थंकर भगवान् जगत् को धर्मामृत का पान कराते हैं और जो उसका पान करते हैं, वे सदा के लिए अशोक बन जाते हैं। इस सम्बन्ध में किसी कवि ने बहुत कहा है:—

युवाकाल में सत्पुरुषों से,
होता जग-उपकार महान्।
युवाकाल क्या बाल्यकाल ही,
कर देता नवशान्ति विधान।
बाल्यकाल क्या जन्मकाल ही,
करता संकट का अवसान।

जन्मकाल क्या गर्भकाल ही,
करता उन्नतिमय उत्थान।
प्रातःकाल गर्भगत दिनमणि,
क्या नहिं करता स्वर्ण विहान ?
म्लान कमल-दल विकसित होते,
करते हैं मधुकर मधुपान ॥

तीर्थंकर भगवान् का पुण्य अखिल जगत् के लिए वरदान रूप सिद्ध होता है।

इस प्रकार अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान, स्वयं अशोक और संसार के शोकसंतप्त प्राणियों को अशोक बनाने वाले भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम प्रणाम करना चाहिए।

श्रीठाणांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के पुरुष बतलाए हैं। वे इस प्रकार हैं–

(१) कोई पुरुष आदि में उदित होते हैं और अन्त में भी उदित होते हैं।

(२) कोई आदि में उदित होते हैं पर अन्त में उदित नहीं रहते-अस्त हो जाते हैं।

(३) कोई आदि में अनुदित होते हैं परन्तु अन्त में उदित होते हैं।

(४) कोई-कोई ऐसे होते हैं जो न आदि में उदित होते हैं और न अन्त में उदित होते हैं।

इन चार भंगों में से प्रथम भंग में-उदितोदित में भरत चक्री आदि की गणना होती है। भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरतजी जगद्विख्यात महापुरुष हुए हैं। 'भारतवर्ष' नाम भरतजी का स्मारक है। उन्होंने अपने पूर्वजन्म मे पांच सौ मुनियों को साता पहुँचाई थी। उसके फलस्वरूप वे अनुत्तर विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए। वहां से स्थिति पूर्ण होने पर च्यवन करके श्री ऋषभदेवजी की रानी सुमंगला के गर्भ में आये। महाराज नाभि आपके दादा थे और मरुदेवी दादी थी। छह लाख पूर्व तक राजपदवी भोगी और एक लाख पूर्व तक दीक्षित अवस्था में रहे।

ऊगी ऊगी ने ऊगिया,
वह देखो राजा भरतजी, ओ भरतजी।
छह खण्ड का राजाजी रे,
कांई बत्तीस हजार ओ भरतजी॥

भरतजी तत्कालीन सब राजाओं में सिरमौर थे। बत्तीस हजार मुकुटबंध राजा उनकी सेवा में हाजिर रहते थे। वे भरत-क्षेत्र के छहों खण्डों के नायक थे, नाथ थे। चौदह रत्नों के स्वामी थे, जिनमें सात एकेन्द्रिय रत्न और सात पंचेन्द्रिय रत्न थे। सभी रत्नों में अलग अलग गुण थे।

एक दिन भरत चक्रवर्त्ती विविध प्रकार के बहुमूल्य और सुन्दर आभूषणों से तथा वस्त्रों से सुसज्जित हो अपनी असीम सुन्दरता निरखने के लिए अरीसा-भवन अर्थात् काच के महल में

उनकी दृष्टि मुद्रिकाविहीन एक उंगली पर जा पड़ी। अन्य उंगलियों की तुलना में वह उंगली अत्यन्त श्रीविहीन भद्दी दिखाई दी।

इस साधारण-सी घटना ने एक महत्वपूर्ण घटना का सूत्रपात किया। उनके चित्त में अपने शरीर को स्वाभाविक रूप में देखने का कुतूहल उत्पन्न हुआ। उन्होंने मस्तक पर से मणि-मण्डित मुकुट उतारा। तब वे और अधिक श्रीहीन दिखाई देने लगे। कुतूहल क्रमशः बढ़ता गया और एक-एक करके आभूषण शरीर से अलग होने लगे। अन्त में जब सारे आभूषण उतार दिये तो शरीर अपने नैसर्गिक रूप में आ गया। उसे देख कर भरतजी की विचारधारा एक नवीन दिशा की ओर मुड़ गई।

भरतजी विचार करने लगे—ओह, मैं समझ रहा था कि यह सुन्दरता मेरी थी, पर आज मेरा भ्रम दूर हो गया। वास्तव में अब तक जो सौन्दर्य दिखाई दे रहा था, वह मेरा नहीं, इन निर्जीव आभूषणों का था। यह शरीर तो सात धातुओं से बना है, हाड़ मांस आदि का ढांचा है इसमें सुन्दरता कहां है? और इस शरीर से मेरा क्या सम्बन्ध है? जड़ और चेतन का क्या नाता है? जड़ शरीर यहां पड़ा रह जाता है, सड़ गल जाता है, आग में भस्म कर दिया जाता, है जमीन में गाड़ दिया जाता है या चील-कौवे गिद्ध शृगाल आदि खा जाते हैं। चेतन अन्यत्र चला जाता है।

और जब शरीर ही आत्मा का अपना नहीं है तो कुटुम्ब-परिवार, धन-वैभव, राज-पाट आदि कैसे हो सकते हैं?

यस्यास्ति नैक्यं वपुषाऽपि सार्धम्,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठन्ति शरीर मध्ये ।

जिस आत्मा की शरीर के साथ भी एकरूपता नहीं है, उसकी पुत्र, पत्नी और मित्र आदि के साथ एकरूपता किस प्रकार सम्भव है ? चमड़ी को पृथक् कर देने पर शरीर में रोम कैसे ठहर सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि जगत् में कुटुम्बादि के साथ जो रिश्ता है, उसका आधार यह शरीर है। मगर शरीर ही जब आत्मा से भिन्न है तो कुटुम्बादि कैसे अभिन्न हो सकते हैं ?

तो भरतजी फिर सोचने लगे—दुनियां के पदार्थ यहीं रह जाते हैं और आत्मा अकेला ही यहां से चल देता है। अगर कोई साथ जाता है तो वह उसके द्वारा किये हुए कर्म हैं। जीव अपने किये शुभ और अशुभ कर्मों को साथ लेकर नवीन गति में चला जाता है। उस समय संसार के सारे रिश्ते समाप्त हो जाते हैं और जीव अपनी नयी दुनियां बनाता है।

अनादि काल से यही परम्परा चली आ रही है। सब संसारी जीव यही करते आ रहे हैं। इस विश्व में कोई पुद्गल नहीं है जिसे जीव ने अनन्त-अनन्त वार न भोग लिया हो। कोई जीव ऐसा नहीं है जिसके साथ अनन्तों वार नातेदारी-रिश्तेदारी न हुई हो। लोक में कोई स्थान ऐसा नहीं है जहां यह जीव उत्पन्न न हुआ हो। फिर भी कर्मोदय के कारण इसकी भोगतृष्णा का

अन्त नहीं आता। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है मगर उसकी तृष्णा बूढ़ी नहीं होती, बल्कि वह सदा हरी-भरी रहती है। इन्द्रियां शिथिल पड़ जाती हैं, मगर लोभ-लालच में शिथिलता नहीं आती। आयु का अन्त आ जाता है पर कामनाओं का अन्त नहीं आता। इच्छाएँ कभी समाप्त नहीं होती। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिय।

जैसे आकाश का कहीं ओरछोर नहीं, अन्त नहीं, उसी प्रकार इच्छाओं की भी कहीं समाप्ति नहीं। समाप्ति हो भी कैसे सकती है? एक इच्छा की पूर्त्ति अनेक नूतन इच्छाओं को उत्पन्न करती है। लाभ से लोभ की वृद्धि होती है—

जहा लाहो तहा लोहो,
लाहा लोहो विवड्ढई॥

जब लाभ से लोभ की वृद्धि होती है तो लोभ की तुष्टि होने का कोई भी उपाय कारगर नहीं हो सकता। अतः लोभ-कषाय का ही अन्त करना उचित है। जब लोभ का अन्त आ जाएगा तभी अन्तरात्मा में निरन्तर जलने वाली तृष्णा की अग्नि शान्त होगी। तभी आत्मा को संतोष की प्राप्ति होगी, तभी सुख की प्राप्ति होगी। आग में ईंधन डालने से आग शान्त नहीं होती, उसी प्रकार संसार का ऐश्वर्य भोगने से भोगकामना शान्त नहीं होती।

देखो, जब मनुष्य विवाह के लिए तैयार होता है और बींद बनता है तो सब चीजें प्रायः मांगी हुई होती हैं, जिन्हें पहन

कर वह घोड़े पर बैठता है और फूला नहीं समाता। मगर यह नहीं समझता कि जिन पर अकड़ है वे सब वस्तुएँ पराई हैं।

मनुष्य सोचता हैं—सोना, चांदी, रुपिया, रत्न, जवाहर आदि-आदि मेरे हैं, किन्तु जमीन कहती है-अरे मूर्ख. यह सब चीजें तेरी कहां हैं ? यह तो मेरे भीतर से निकली हैं। अगर तू अपनी मानेगा तो तुझे भी मैं हजम कर जाऊँगी या खाक कर दूंगी।

यह संसार के पदार्थ तेरे नहीं हैं। तेरे होते तो जन्म के समय तेरे साथ आये होते और मृत्यु होने पर भी तेरे साथ-साथ जाते। मगर क्या कभी ऐसा देखा गया है ? जीव क्या लेकर आता है और क्या लेकर जाता है ? कहा है-

जन्मे जितने जीव हैं, जग में करो विचार।
लाये कितने साथ हैं, पहले का परिवार ?॥
आया है क्या साथ में, जाएगा क्या साथ ?
जीव अकेला जायगा, बन्धु पसारे हाथ ॥
यह अभिन्न काया नहीं, साथ जायगी भ्रात।
तो वैभव-परिवार की, रही दूर ही बात ॥

प्रतिदिन हजारों मनुष्य मरते और जन्म लेते हैं। उनमें से क्या कोई भी कुछ साथ ले जाता है ? साथ लाता है ? दुनिया का वैभव दुनिया में ही रह जाएगा। जिस सामग्री के लिए जीव पाप करता है, वह सामग्री साथ तो जाती नहीं है, यहीं किसी और की होकर रह जाती है. मगर उसके लिए किया हुआ पाप साथ में जाता है और परलोक में पीड़ाएँ पहुँचाता है। यह सब

जानते-देखते हुए भी मनुष्य अनजान और अंधा बना हुआ है, यह बड़े खेद का विषय है।

देखो, सूर्योदय होने में देर होती है, परन्तु अस्त होने में कुछ भी देर नहीं लगती। यह शरीर कितने आडम्बर करवाता है। जीव संसार में जन्म लेकर वृद्धावस्था पर्यन्त कितने आडम्बर करता है, मगर मरने में क्या देर लगती है? एक मिनिट पहले बोलता था, किन्तु दूसरे ही मिनिट मिट्टी रह जाती है। और फिर गजब की बात तो यह है कि जिस शरीर से पहले जो लोग प्रगाढ़ प्रेम करते थे, वे ही निर्दय होकर उसे चित्ता की आग की भेंट कर देते हैं और खाक को पानी में बहा देते हैं।

और वे ऐसा न करें तो क्या करें? मनुष्य का शरीर इस किस्म का बना है कि वह निष्प्राण होने पर किसी भी काम का नहीं रहता। जानवरों का शरीर अनेक प्रकार से काम आता है। उनकी चमड़ी से जूते आदि सैकड़ों वस्तुएँ बनती हैं। हड्डियां भी काम आती हैं। हाथी के दांतों से कलाकार अनेक सुन्दर कलाकृतियां बनाते हैं। किसी के बाल काम आते हैं, किसी के नाखूनों का उपयोग होता है। मगर इस मानव देह की कोई वस्तु काम में नहीं ली जाती। जलाने या दफना देने के सिवाय इसका किया जाय तो क्या किया जाय?

गाय भैंस पशुओं की चमड़ी, आती सौ सौ काम।
हाथीदांत तथा कस्तूरी, बिकती मँहगे दाम॥
नर-तन किन्तु निपट निस्सार।
हँस का जीवित कारागार॥

कदाचित् कोई मृत कलेवर पर अनुराग धारण करके उसे आग की भट न करे और घर में ही रख छोड़े तो कुछ ही काल के पश्चात् उस कलेवर में से ऐसी बदबू प्रकट होगी कि घर वालों की बात दूर, पास-पड़ौस के लोग भी सहन नहीं कर सकेंगे। आखिर राज्यशासन को हस्तक्षेप करना पड़ेगा और उस कलेवर को दग्ध करना ही पड़ेगा।

आप सोचते होंगे कि एक तरफ तो मानव-शरीर की प्राप्ति बड़े पुण्य के उदय से बतलाई जाती है और मानव शरीर की मुक्तकंठ से महिमा गाई जाती हैं और दूसरी तरफ उसे जानवरों के शरीर से भी निकृष्ट, निस्सार और अपवित्र बतलाया जाता है। ऐसी स्थिति में कौन-सी बात ठीक मानी जाय ? और कौन-सी बात गलत समझी जाय ?

मगर भाइयों ! दोनों ही बातें यथार्थ हैं। जब तक इस में प्राण हैं, चेतन महाराज विराजमान हैं, तब तक यह शरीर सर्वोत्कृष्ट है। इस शरीर का मुकाबिला कोई नहीं कर सकता। धर्मसाधना के लिहाज से देवता का शरीर भी मानव शरीर की तुलना में नगण्य है। इस शरीर से ही संयम की आराधना हो सकती है और इसी शरीर से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। मनुष्य शरीर को धारण किये बिना आज तक किसी ने मुक्ति प्राप्त नहीं की है और न भविष्य में कोई कर सकेगा। सर्वार्थ-सिद्ध विमान के देवों को भी मनुष्य शरीर धारण करना पड़ता है। तभी वे निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। पर भूल न जाओ कि मनुष्य रीर का यह महत्त्व चेतना के कारण है। इस शरीर में विक-सत चेतना होती है। वह शरीर को महिमा प्रदान करती है।

जब चेतना नहीं रही और शरीर निर्जीव हो गया तो उसका कोई महत्त्व नहीं रहता। वह बिलकुल निरुपयोगी हो जाता है और दग्ध योग्य बन जाता है। अतएव उक्त दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है, कोई असंगति नहीं है। दोनों कथन अपेक्षाभेद से सत्य हैं।

भरतजी को विचार आया-अरे जीव! तू इन प्रद्गलों में क्यों गृद्ध हो रहा है?

कर भला तू ऐ दिला,
दुनियां तो मानिंद ख्वाब है।

यह संसार तो स्वप्न के समान है। अर्थात् जैसे स्वप्न में दिखाई देने वाले पदार्थ क्षणविनश्वर होते हैं, उसी प्रकार जगत् के समस्त पदार्थ भी क्षणभंगुर हैं। देखते २ नष्ट हो जाते हैं। जिस ओर दृष्टि घुमाकर देखोगे, उसी ओर आपको अनित्यता, चंचलता, अध्रुवता और क्षण भगुरता दिखाई देगी।

प्रकृति की ओर देखो। जब रजनी का अवसान सन्निकट होता है तो अंधकार, जिसका भूतल और आकाश में अखण्ड साम्राज्य था, क्षण २ में क्षीण होता जाता है। थोड़ी देर में पूर्व दिशा सुहावनी लालिमा से व्याप्त हो जाती है. और वातावरण में अद्भुत परिवर्त्तन होने लगता है। फिर दिवाकर का उदय होता है और अंधकार को छिपने की कहीं जगह नहीं मिलती। धरती और आकाश प्रकाश से परिपूर्ण हो जाते हैं। शनैः शनैः प्रकाश प्रखर होता चला जाता है और मध्याह्न में, जब सूर्य का तारुण्य-काल आता है, प्रकाश अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।

किन्तु उसकी यह पराकाष्ठा ही अधःपतन एवं ह्रास का कारण बनती है। थोड़ी देर में ऐसा जान पड़ता है मानों सूर्य को अस्ताचल पर्वत ने निगल लिया है।

जरा ऋतुओं का विचार करो। वसन्त का आगमन होने पर मालूम होता है, प्रकृति में नूतन प्राणों का संचार हो उठा है। मगर ग्रीष्म आ धमकता है और सूर्य की प्रखरतामयी, एवं संतापमयी किरणें वसन्तश्री में आग लगा देती हैं। हरी भरी धरती श्मशान बन जाती है और मनुष्य गर्मी से आकुल व्याकुल हो जाते हैं। जब संताप की यह उग्रता चरम सीमा को स्पर्श करती है, तब वर्षा का आगमन होता है और मेघ की अविरल धाराएँ सूखी और प्यासी भूमि को शीतल बनाती है। सर्वत्र हरियाली ही दृष्टिगोचर होती है। सरिताएँ यौवन से इठलाती हैं और अपनी अव्यक्त वाणी में मनोहर गीत गाती हुई वेग के साथ सागर की ओर दौड़ने लगती हैं, जैसे चिरकालीन प्रियविरह का अन्त करने को उतावली हो रही हों।

इसी प्रकार मानव जीवन की ओर दृष्टिपात करें तो यही अनित्यता, यही अस्थिरता और चंचलता दिखाई देती है। मनुष्य छोटे से शिशु के रूप में जन्मा, बड़ा हुआ, विषय भोगों के कीचड़ में डूबा और फिर अस्तोन्मुख होने लगा। एक दिन आया कि श्वास बंद हो गया और किसी अज्ञात लोक की ओर प्रयाण कर गया। एक ही जीवन में कितनी दशाएं पार करनी पड़ती हैं! कितने बड़े बड़े परिवर्त्तनों में से गुजरना पड़ता है।

और इन बड़े बड़े परिवर्त्तनों के अन्तर्गत जो सूक्ष्म परिवर्त्तन होते रहते हैं, उनकी तो गिनती ही नहीं है। सूक्ष्म

परिवर्त्तन कोई कोई इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें सर्वज्ञ भगवान् के सिवाय हम लोग जान ही नहीं सकते। शास्त्र की भाषा में जिसे अर्थपर्याय कहते हैं, वह एक समय तक ही रहता है। यह पर्याय निरन्तर होता रहता है और इससे जड़ या चेतन कोई भी पदार्थ नही बचा है। इस पर्याय की अपेक्षा से ही समस्त जगत् क्षणविनश्वर है। जिस वस्तु की जो हालत एक क्षण में है, वह दूसरे क्षण में नहीं रहती। यह है जगत् की अनित्यता: फिर भी मनुष्य अपने को अजर-अमर मान रहा है और भविष्य की चिन्ता ही नहीं करता! यह कैसी गफलत है! कितनी नादानी है।

भरतजी ने ज्ञान की तराजू पर तोल कर देख लिया कि संसार में सुख ज्यादा है अथवा दुःख ज्यादा है? उन्हें स्पष्ट प्रतीत हुआ कि यहां सुख की अपेक्षा दुःख ही अधिक है। सुख और दुख की मात्रा में जो अन्तर है वह भी सामान्य नहीं है। संसार में दुख यदि सुमेरु की बराबर है तो सुख राई की बराबर भी मुश्किल से होगा।

वास्तव में देखा जाय तो संसार में जो सुख कहलाता है। वह सुख ही नहीं है। असली सुख वह है जो स्वाश्रित हो, जिसमें दुःख का सम्मिश्रण न हो और जिसके फलस्वरूप दुःख की उत्पत्ति न हो।

जो सुख पराश्रित है, वह सुख नहीं, सुखाभास है। सांसारिक सुख प्रथम तो इन्द्रियों पर आश्रित है फिर भोग पदार्थों पर अवलम्बित है। भोग्य पदार्थों की विद्यमानता भी अगर इन्द्रियां काम न दें तो उनका उपभोग नहीं हो सकता।

जिसके कान काम नहीं देते अर्थात जो बधिर है, वह शब्दों का उपभोग नहीं कर सकता। नेत्रेन्द्रियहीन पुरुष रूप का सुख अनुभव नहीं कर सकता। जिसकी घ्राणशक्ति नष्ट हो गई है, वह गंध के सुख से वंचित हो जाता है। इसी प्रकार रसना और स्पर्शन इन्द्रिय की कुण्ठता वाला रस और स्पर्श के आनन्द से वंचित हो जाता है। अगर इन्द्रियां दुरुस्त हों और भोग्य पदार्थ न हों तो भी सांसारिक पदार्थ सुख नहीं दे सकते।

भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को रात दिन पसीना बहाना पड़ता है। कठिन से कठिन श्रम करना पड़ता है, देश विदेश में भटकना पड़ता है और कभी कभी अपनी जान तक जोखिम में डालनी पड़ती है।

इतनी सारी मुसीबतें झेलने के पश्चात् भी कभी भोग्य पदार्थ मिलते हैं, कभी नहीं भी मिलते। पुण्य सहायक हुआ तो मिल जाते हैं, न हुआ तो केवल श्रम करना ही पल्ले पड़ता है।

भोगोपभोग के पदार्थ कदाचित् प्राप्त हो जाते हैं तो सदा स्थायी नहीं रहते। पर पदार्थों का संयोग कभी स्थायी हो ही नहीं सकता। कोई कारण मिलता है और उन पदार्थों का वियोग हो जाता है। जब वियोग होता है तो इतना दुःख होता है, जितना संयोग के समय में सुख नहीं हुआ था। कभी कभी तो मनुष्य अत्यन्त कठोर परिश्रम से प्राप्त भोगों को भोग भी नहीं पाता और वे नष्ट हो जाते हैं। उस समय उसके चित्त में कितना संताप होता है, यह बात या तो वह मनुष्य जानता है या केवली भगवान् ही जानते हैं।

मान लीजिए कि मनुष्य का पुण्य प्रबल था और उसने भोग पदार्थों को भोग भी लिया, तो भी भोग के फलस्वरूप होने वाले कर्मबंध से वह नहीं बच सकता।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि संसार का सुख वास्तविक सुख है ही नहीं। जो जीव वास्तविक सुख के आस्वाद से अपरिचित हैं। वे ही उस सुखाभास को सुख मानते हैं। ज्ञानी जन स्पष्ट समझते हैं कि ऐसा सुख वस्तुतः दुःख है क्योंकि वह दुःख का कारण है। फिर भी कदाचित् उसे विकृत सुख मान लिया जाय तो भी उसकी मात्रा दुःखों की तुलना में नगण्य है।

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि अज्ञानी जीव दुःख के कारण को भ्रान्तिवश सुख समझ लेते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए इतने उत्कंठित एवं प्रयत्नशील हो जाते हैं कि उनका प्राप्त थोड़ा बहुत सुख भी मिट्टी में मिल जाता है। ज्ञानी पुरुषों का अनुभव है कि—

संयोगमूला जीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा।

अर्थात्—संसारी जीवों को लगातार जो दुःख झेलने पड़ रहे हैं, उनका मूल कारण पर पदार्थों का संयोग है। इन बाह्य पदार्थों के संयोग के कारण ही जीव दुःखी हो रहे हैं। अतएव ज्यों ज्यों बाह्य पदार्थों का संयोग और ममत्व घटता चला जाता है, त्यों त्यों सुख की वृद्धि होती रहती है अन्त में जब शरीर तक का संयोग छूट जाता है तब सम्पूर्ण और वास्तविक सुख प्राप्त होता है।

यह ज्ञानियों का महत्त्वपूर्ण अनुभव है। इस अनुभव के प्रकाश में जो देखते हैं और पर-पदार्थों की ममता को हटाते हैं, वही सच्चे सुख के भागी होते हैं।

भरत महाराज चक्रवर्त्ती थे, विशाल से विशाल जो साम्राज्य कोई भी मनुष्य पा सकता है, वह उन्हें प्राप्त था। विश्व के सर्वोत्कृष्ट वैभव के वे अधिपति थे। हजारों देवता उनके सेवक थे। दुनियां की काई भी वस्तु उन्हें दुर्लभ नहीं थी। पांचों इन्द्रियों के भोग सुलभ थे। हजारों रानियां थीं। बड़े २ सम्राट् उनकी कृपादृष्टि पाकर अपने को धन्य समझते थे। लेकिन कौन-सी प्रेरणा उनके मन में उत्पन्न हुई कि उस दुर्लभ वैभव को ठुकराकर वे अकिंचन अनगार बन गये? समस्त धन, जन और वैभव के संयोग से अगर सुख मिलता होता तो वे उसका परिहार क्यों करते?

भाइयों! या तो यह मानो कि भरतजी नादान थे या फिर यह स्वीकार करो कि उनके मार्ग पर न चलने वाले आप लोग नादान हैं। आप अपनी नादानी को स्वीकार करेंगे, यह मैं जानता हूं, क्योंकि वीतराग भगवान् की वाणी पर आपकी श्रद्धा है। चाहे आप उसके अनुसार अपना व्यवहार न बना सकें, फिर भी उस पर श्रद्धा रखते हैं। यह भी बड़े सौभाग्य की बात है। श्रद्धा दृढ़ रही तो एक दिन आएगा कि आपमें उसके अनुसार आचरण करने की शक्ति प्रकट हो जाय। श्रद्धावान् जीव कभी न कभी अपना कल्याण कर ही लेता है। ऐसा समझकर श्रद्धा को सुदृढ़ रक्खो और तदनुसार आचरण करने का प्रत्यन करो।

महाराज भरत चक्रवर्त्ती की भावना चढ़ती ही गई, चढ़ती

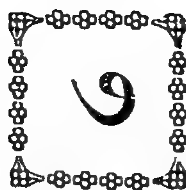
ही गई। जब अन्तरंग कारण प्रबल होता है तो साधारण-सा बहिरंग कारण मिलते ही कार्य की सिद्धि हो जाती है। भरतजी आरीसाभवन में ही थे, मगर भावना के द्वारा वे पूर्ण त्यागी बन गये। वहीं उन्हें केवलज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हो गई।

भरतजी जब भवन से बाहर निकले तो मुनि के परम-कल्याणकारी वेष में थे। राजा लोगों ने देखा तो हँसने लगे कि आज महाराज ने यह क्या स्वांग बनाया है! मगर भरत मुनि के चेहरे पर जो उच्चकोटि की गम्भीरता थी, जो सौम्य भाव खिला हुआ था, वैराग्य की जो अनूठी झलक दिखाई दे रही थी, उसे देखकर वे शीघ्र ही समझ गये कि यह कोई हास्य विनोद नहीं है। भरतजी ने राजाओं को उपदेश दिया। रानियों को भी आत्मकल्याण का प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया। अन्त में उन्हें अनाबाध सुखस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति हुई।

इस प्रकार भरतजी उदितोदित थे। वह चक्रवर्त्ती के पद को प्राप्त करने के कारण उदय प्राप्त थे और फिर केवलज्ञान रूपी लक्ष्मी को प्राप्त करके मुक्तिश्री प्राप्त करने के कारण भी उदय को प्राप्त हुए।

भाइयों! जो प्राणी भरत महाराज की भांति प्रशस्त भावना भाते हैं, उन्हें आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है।

ब्यावर
३-८-४१



उदय और अस्त



स्तुतिः—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै-
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥

भगवान् श्री ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? प्रभो! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

आचार्य मानतुङ्गजी महाराज ने भगवान् की यह स्तुति, क्तामर' के नाम से प्रसिद्ध है, गहरी श्रद्धा-भक्ति से बनाई इसके एक-एक पद्य में अतीव नोहर एवं ात्विक भाव भरे

हुए हैं। अनूठे भाव प्रदर्शित करने में आचार्यजी ने कमाल किया है। इस पद्य में कहते हैं—

हे प्रभो! हे मुनियों के ईश! आपकी आत्मा में समस्त गुणों ने निवास किया है; समस्त गुण ठसाठस भरे हैं, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसका कारण है और वह यह है कि दुनिया में दोषों को अपनाने वाले, दोषों को आदर के साथ ग्रहण करने वाले बहुत हैं। किसी भी क्षेत्र में देखिए और किसी भी श्रेणी के मनुष्यों की ओर दृष्टिपात कीजिए, पता चलेगा कि वे गुणों की प्रशंसा तो करते हैं और दूसरों को यह दिखलाना चाहते हैं कि वे बड़े गुणी हैं, तथापि वे दोषों से मुक्त नहीं हैं। उनका चित्त दोषों का घर बना हुआ है। अनेक प्रकार के दोषों ने उन्हें बुरी तरह घेर रक्खा है। इस प्रकार दोषों के लिए स्थान की कोई कमी नहीं है। संसार के प्रायः सभी लोग दोषों के उपासक हैं और जो नहीं हैं वे भी दोषों से अछूते नहीं हैं। यह देख कर दोषों को अभिमान आ गया। उन्होंने सोचा—भगवान् ऋषभदेव हमारी कद्र नहीं करते, हमारी उपासना नहीं करते अपने मनमें हमें स्थान नहीं देते तो न सही! हमें क्या स्थानों की कमी है! संसार बहुत बड़ा है और हमारे उपासकों की कोई कमी नहीं है। फिर हम क्यों भगवान् का आश्रय लें? वे हमें नहीं चाहते तो हमें भी क्या गरज पड़ी है कि हम उन्हें चाहें?

इसी प्रकार का अभिमान उत्पन्न होजाने के कारण दोषों ने भगवान् का परित्याग कर दिया इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् सब प्रकार के दोषों से रहित हो गये। जब दोषों से रहित

हो गए तो गुणों को पूरी तरह अवकाश मिल गया। भगवान् की आत्मा समस्त गुणों से युक्त हो गई।

इस प्रकार समस्त दोषों से मुक्त और समस्त आत्मिक गुणों से युक्त भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयों! गुणों से आत्मा का उत्थान अर्थात् उदय होता है और दोषों से आत्मा का पतन होता है। यह एक सर्वसम्मत सिद्धान्त है। किन्तु यह समझ लेने की आवश्यकता है कि वास्तव में गुण किसे कहना चाहिए और दोष किसे कहना चाहिए? गुण और अवगुण के बीच भेद करने वाली रेखा कौन-सी है?

प्रायः देखा जाता है कि एक मनुष्य जिसे गुण समझता है, दूसरा उसी को दोष मानता है और एक जिसे दोष कहता है, वही दूसरे की दृष्टि में गुण होता है। उदाहरण के लिए दानशीलता को लीजिए। कोई व्यक्ति बहुत बड़ा दानी है। उसे दान देने का व्यसन है। मुक्त हस्त से, खुले दिल से वह दान देता है। अतएव कहा जाएगा कि अमुक व्यक्ति में उदारता का बड़ा गुण है, दानशीलता का गुण है। मगर दूसरे लोग खास तौर से कृपण और मक्खीचूस उसके इस गुण को गुण नहीं मानेंगे। वे ईर्षा-द्वेष से प्रेरित होकर कहेंगे—'अजी क्या धरा है उसमें! वह तो उड़ाऊ है। उसने बाप-दा [illegible] की पूंजी सारी उड़ा दी है।' कई बार ऐसा हुआ है [illegible] । अतएव यह समझ लेने की आवश्यक [illegible] ौर दोष क्या है?

जिस विशेषता के कारण मानव का उत्थान होता है, अर्थात् उसके दिल का; दिमाग का, देह का और आत्मा का उदय होता है, वह विशेषता गुण कहलाती है। इसके विपरीत जिससे आत्मिक, शारीरिक, मानसिक या अन्य प्रकार की हानि हो, उसे दोष कहना चाहिए।

गुण आत्मा को पवित्रता की ओर प्रेरित करते हैं, दोषों से आत्मा अपवित्र-कलुषित बनता है। गुण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से आत्मा को अपने स्वरूप की ओर ले जाते हैं जब कि दोष विभाव या विकार की तरफ अग्रसर करते हैं।

गुण दोष की कसौटी जनता की रुचि नहीं है। उनका निर्णय लोगों की इच्छा से नहीं हो सकता। अधिकांश लोग शुद्ध हृदय से विचार और निर्णय नहीं करते। राग, द्वेष, ईर्षा, मोह, कुसंस्कारों आदि से प्रेरित उनकी आलोचनाएं होती हैं। बुद्धिमान् पुरुष अपनी शुद्ध अन्तरात्मा से निर्णय किया करते हैं, लोगों की धारणाओं के विचार से नहीं। जो लोगों के कहे-कहे निर्णय करता है उसकी स्थिति बड़ी बेढंगी हो जाती है; क्योंकि लोगों के खयाल एक सरीखे नहीं होते; परस्पर विरोध होते हैं। एक की इच्छा के अनुसार कुछ करने चले कि दूसरे लोग टिका-टिप्पणी करने लगते हैं। अतएव अपने कर्त्तव्य अकर्त्तव्य की कसौठी अपनी ही शुद्ध अन्तरात्मा है और अन्तरात्मा का पथ-प्रदर्शन शास्त्रों से होता है। वीतराग महापुरुषों ने जो निर्णय किये हैं वे प्रत्येक स्थिति में सही हैं। उनके विरुद्ध किसी का मतामत किसी गणना में नहीं है।

तो शुद्ध बुद्धि से गुण दोष का निश्चय करना कठिन नहीं है और निर्णय करने के पश्चात् गुणों को ही ग्रहण करना चाहिये।

मनुष्य की प्रतिष्ठा और महत्ता गुणों के कारण ही होती हैं। कुल, जाति, पद और धन से मनुष्य की उन्नति नहीं होती। एक कवि कहता है:—

गुणैर्गौरिवमायाति, नोच्चैरासनमास्थितः।
प्रासादशिखरस्थोऽपि, काकः किं गरुडायते ?॥

अर्थात् मनुष्य को सद्गुणों के कारण ही गौरव की प्राप्ति होती है। ऊंचे आसन पर बैठ जाने से ही कोई ऊंचा नहीं हो जाता। किसी महल के अत्युच्च शिखर पर कौआ बैठ जाता है। इतने मात्र से उसे गरुड़ होने का गौरव नहीं प्राप्त हो सकता है।

भगवान् ऋषभ देव ने तथा अन्य समस्त तीर्थङ्करों ने गुणों को ही महत्त्व दिया है। जाति और कुल आदि बाह्य बातों से महत्त्व नहीं माना। जाति कुल, प्रत्तिष्ठा और पूंजी कल्याणकारी नहीं होते। कल्याण तो गुणों से ही हो सकता है।

सत्य तो यह है कि आत्मा में अनन्त गुण विद्यमान हैं और प्रत्येक गुण असीम है। मगर कर्म के संयोग से उनका परिणमन विपरीत हो रहा। वे विकृत अवस्था में हो रहे हैं। अतएव कहीं बाहर से लाकर गुणों को भीतर डालने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है केवल उनके शुद्धिकरण की।

अगर आत्मिक गुण अपनी शुद्ध अवस्था ग्रहण कर लें तो आत्मा का निस्तार हो जाय, कल्याण हो जाय।

इसी प्रयोजन के लिए वीतराग भगवान् की स्तुति की जाती है और अन्यान्य धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं। अतएव मनुष्य का लक्ष्य अपने गुणों का निरन्तर विकास करना होना चाहिए। गुणों का विकास गुणी की उपासना से होता है। भगवान् आदिनाथ समस्त गुणों के भण्डार हैं अतएव अपना कल्याण चाहते हो तो उन्हीं की शरण ग्रहण करो।

भाइयों! श्रीठाणांगसूत्र में जो चार प्रकार के पुरुष कहे हैं, उनमें से उदित होकर उदित होने वाले पुरुष का वर्णन कल भरत चक्रवर्त्ती के उदाहरण से किया गया था। उन चार भेदों में से दूसरा भेद है—उदित होकर अनुदित होने वाले, अर्थात् कोई-कोई पुरुष ऐसे होते हैं जो अपने गुणों के कारण पूर्वावस्था में तो उदय को प्राप्त होते हैं, मगर बाद में अवगुणों के कारण अनुदित हो जाते हैं—अधोगति को प्राप्त होते हैं। इस श्रेणी के पुरुषों में अन्तिम चक्रवर्त्ती ब्रह्मदत्त गिने गये हैं।

आपको मालूम होगा कि प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल में बारह-बारह चक्रवर्त्ती होते हैं। यह चक्रवर्त्ती सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर आधिपत्य करते हैं। उनकी विभूति लोक में समस्त मनुष्यों से बढ़कर होती है। छियानवे करोड़ ग्राम चक्रवर्त्ती की अधीनता में होते हैं। उनके बल का क्या ठिकाना है! तथापि उनके बल का आभास देने के लिए एक कल्पना की जाती है-मान लीजिए कि चक्रवर्त्ती किसी जगह बैठा है। उसे लोहे की बहुत मजबूत सांकलों से बांध दिया जाय और चतुरङ्गी

हिसाब लगाकर देखोगे तो पता चलेगा कि संसार में बड़े से बड़े जो पाप हुए हैं, उनके पीछे किसी न किसी रूप में कामवासना की ही प्रेरणा है। इस कामवासना ने घोर से घोर अनर्थ किये हैं। न जाने कितने व्यक्तियों के प्राण लिये हैं और वर्त्तमान में ले रही है। इस वासना की बदौलत कितने ही साम्राज्य धूल में मिल गये। न जाने कितने ही पिताओं ने पुत्रों के प्राण लिये, पुत्रों ने पिताओं को यमलोक पहुँचाया, पतियों ने अपनी पत्नियों के खून से हाथ भरे और पत्नियों ने अपने पतियों को जहर खिलाकर मार डाला।

सचमुच कामवासना मनुष्य को पिशाच बना देती है। इसके वशीभूत होकर मानव दानव बन जाता है। ब्रह्मदत्त की माता भी पिशाचिनी बन गई और अपने ही कलेजे के टुकड़े को खत्म करने के लिए उतारु हो गई। रानी चुलनी ने ब्रह्मदत्त को मार डालने के उद्देश्य से लकड़ी का एक महल बनवाया, जिसमें लाख ही लाख लगवा दी।

महल बन कर तैयार हो गया। रानी ने कुमार को उसमें सोने के लिए कहा और सोचा-अब शीघ्र से शीघ्र कुमार का काम तमाम कर देना चाहिए।

कुमार ब्रह्मदत्त का भाग्य अच्छा था कि राजा को एक चतुर दीवान मिला था। उसने जब वह महल बनवाया तो एक सुरंग भी बनवा दी थी। वह राजनीतिज्ञ तो था ही, राजघराने की चालों को भी भलीभांति जानता था।

जब रानी ने कुमार को उस महल में शयन करने को कहा तो दीवान ने वह सुरंग उसे बतला दी और कह दिया—खतरे के

समय इस सुरंग से बाहर निकला जा सकता है। यह इसीलिए है।

राजकुमार महल में सोया। माता ने उसमें आग लगा दी। कुमार सुरंग से होकर बाहर निकल गया और जंगल में चला गया।

कुमार के पैरों के तलुवों में शंख, चक्र, पद्म आदि के प्रशस्त चिह्न थे। रास्ते में, धूल में पैर पड़ने से वह चिह्न बनते जाते थे। मगर कुमार का उस तरफ कोई लक्ष्य नहीं था। वह अंधाधुंध चला जा रहा था।

संयोगवश उधर से सामुद्रिकशास्त्र का एक धुरंधर विद्वान् निकला। धूल में चक्रवर्त्ती के चरणचिह्न देखकर वह उनका अनुसरण करता हुआ आगे बढ़ा। राजकुमार मिला और उसे देख कर वह बहुत प्रसन्न हुआ। वह उसे आदर के साथ अपने घर ले गया। घर पहुँचकर उसका खूब सत्कार किया और अपनी कन्या के साथ उसकी शादी कर दी।

श्वसुर के घर कुछ दिन रह कर कुमार परदेश के लिए रवाना हो गया। वह जहां गया वहीं पुण्योदय के कारण खूब मान-सन्मान का भाजन बना। कई कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। वह इधर-उधर विचरण करने लगा।

गुणज्ञ पुरुषों के कई शत्रु भी होते हैं, परन्तु जब तक पुण्य का उदय रहता है, कोई उनका बाल भी बांका नहीं कर सकता।

अग्निस्तम्भो जलस्तम्भः, शस्त्रस्तम्भस्तथैव च।
दुष्टानां दमनं चैव, पुण्यकारस्य दर्शनात्॥

पुण्य की शक्ति असीम है। वास्तव में पुण्य मनुष्य का सब से बड़ा और समर्थ रक्षक है। पुण्यात्मा के दर्शन से आग की शक्ति कुण्ठित हो जाती है, पानी उसे डुबा नहीं सकता, शस्त्र उसके सामने बेकार हो जाते हैं। दुष्टों का दमन होता है।

जिसके पल्ले में पुण्य नहीं है, उसके कितने ही रक्षक क्यों न हों, वह रक्षित नहीं रहता। इसके विपरीत, पुण्य जिस का रक्षक होता है, उसका कोई कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं,
सुरक्षितं दैवहतं बिनश्यति ।

भाइयो ! अगर अपनी रक्षा चाहते हो तो पुण्य उपार्जन करो। पुण्य ही तुम्हारी रक्षा करेगा। अगर पुण्य न होगा तो रक्षा नहीं हो सकेगी। रक्षा का कोई भी उपाय काम नहीं आ सकेगा। इस संसार में पुण्य बड़ा सहायक है।

ब्रह्मदत्त कुमार ने पूर्व जन्म में प्रबल पुण्य उपार्जन किया था। अतएव वह जहां गया, आनन्दपूर्वक रहा। कुछ काल बीत जाने पर उसने महान् ऋद्धि सिद्धि के साथ अपने घर की ओर प्रस्थान किया। घर आकर यथासमय छह खंड पर विजय प्राप्त की। समस्त भरत क्षेत्र उसके अधीन हो गया।

पुण्यवान् के पुण्य का सितारा कभी छिपा नहीं रहता। माता ने लड़के के प्राण लेने चाहे थे, पर उसके प्राणों की रक्षा ही नहीं हुई, वह भाग्यशाली पुरुष चक्रवर्त्ती राजा भी बन गया। कहा है:—

पुण्य प्रबल संसार में, पुण्य की यह सब माया है।
सुख सम्पति पावे वही, जिसने पुण्य कमाया है ॥ टेर ॥
मानव जन्म आर्य भूमि और, उत्तम कुल को पाता है।
दीर्घायु और पूरण इन्द्रिय, तन निरोग मिल जाता है ॥
सभी खेल हैं पुण्य के, ज्ञानी जन फर्माया है ॥ १ ॥
मिले पुत्र पुण्यवान् इसी से, पतिव्रता घर नारी है।
करे रंक को राव पुण्य ही, बिना पुण्य के ख्वारी है।
करे कदर कोई नहीं, जो नहीं पुण्य कमाया है ॥ २ ॥
तीर्थंकर चक्री पुरुषोत्तम, आदि पद मिल जाता है।
वन में रण में शत्रु जल में, ये ही तुझे बचाता है।
चरण पड़े पुण्यवान् के, जहां निधान प्रकटाया है ॥ ३ ॥
यही सहायक मोक्ष द्वार तक, पहुँचा कर रह जाता है।
पाप-पुण्य के क्षय होने पर, सिद्ध स्वरूप कहाता है।
अजर अमर है आतमा, आवागमन मिटाया है ॥ ४ ॥
पुण्य छोड़ने योग्य बताकर, लोगों को भरमाते हैं।
'चौथमल' कहे वे अज्ञानी, एकान्तिक बन जाते हैं।
दो हजार के साल में, नीमच में पद गाया है ॥ ५ ॥

भाइयो ! पुण्य की शक्ति बहुत प्रबल है। संसार में जो भी उत्तम संयोग हैं, सब पुण्य के उदय से ही प्राप्त होते हैं। मनुष्यभव, उत्तम कुल में जन्म, नीरोग और परिपूर्ण शरीर आदि

सब पुण्य की ही देन हैं। पुण्य रंक को भी राजा बना देता है। जिसने पुण्य नहीं कमाया, वह सर्वत्र सर्वदा दुखी रहता है, सर्वत्र उसकी दुर्गति होती है। उसे कहीं कोई टके सेर भी नहीं पूछता।

पुण्य के ही प्रभाव से तीर्थङ्कर जैसा महत्तम पद प्राप्त होता है। चक्रवर्त्ती, वासुदेव आदि पद भी इसी के प्रभाव की देन हैं। पुण्य सभी इष्ट संयोगों का दाता है। सब प्रकार की सांसारिक समृद्धि तो पुण्योदय से ही प्राप्त होती है, मगर लोकोत्तर समृद्धि की प्राप्ति में भी पुण्य कारण होता है।

कितने ही अज्ञानी कहते हैं कि पुण्य एकान्ततः छोड़ने योग्य है—त्याज्य है, परन्तु उनका यह कथन और मन्तव्य मिथ्या है। पुण्य परम्परा से मोक्ष का कारण है। आपको मालूम है कि पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यभव, त्रसनामकर्म आदि पुण्य प्रकृतियां हैं। इनके बिना कोई भी जीव मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता। अगर पुण्य एकान्त रूप से हेय मानलिया जाय तो फिर ऐसा प्रयत्न करना पड़ेगा, जिससे कि मनुष्यभव आदि की प्राप्ति न हो, और जब वह नहीं होगी तो मोक्ष भी प्राप्त नहीं होगा।

मोक्षमार्ग को प्राप्त करने तथा उस पर आगे बढ़ने में पुण्य बहुत सहायक है। अतएव पुण्य को एकान्त त्याज्य समझना अपने लिए मोक्ष का द्वार बंद कर लेने के समान है। हां, जब जीव आध्यात्मिक उन्नति करते २ उच्च सीमा पर पहुँच जाता है, तब पुण्य आप ही छूट जाता है।

तो पुण्य के योग से ब्रह्मदत्त महान् तेजस्वी राजा हुए।

उनके अन्तःपुर में चौसठ हजार रानियां थीं। बत्तीस हजार राजा उनकी सेवा में प्रस्तुत रहते थे।

चक्रवर्त्ती नौ निधियों के अधिपति होते हैं। एक दिन ब्रह्मदत्त को काल नामक निधान से अपने अतीत-कालीन पांच भवों का पता चला। कहीं कहीं उल्लेख आया है कि एक बार ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती नाटक देख रहे थे। नाटक देखते २ उन्हें देव-लोक में देखे नाटक का स्मरण हो आया, जिससे जातिस्मरणज्ञान उत्पन्न हो गया।

जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न होने पर ब्रह्मदत्त को अपने एक भाई का पता चला जो पिछले पांच भवों तक उनके साथ था, मगर इस भव में साथ बिछुड़ गया था। चक्रवर्त्ती को अपने उस पूर्वजन्मों के भाई से मिलने की बड़ी उत्कंठा हुई। तब उन्होंने एक उपाय सोचा। श्लोक का आधा भाग रचा वह इस प्रकार है—

'गोप-दासो मृगो हंसः मतंगश्चामरो यथा।'

इस श्लोकार्ध को ब्रह्मदत्त ने जनता में प्रचारित कर दिया और यह घोषणा करवा दी कि जो इसकी पूर्त्ति कर लाएगा उसे आधा राज्य दिया जाएगा।

ब्रह्मदत्त का वह भाई पुरिमताल नगर में एक सेठ के घर जन्मा था और दीक्षा अंगीकार करके आत्म-कल्याण कर रहा था। उन मुनि को अवधिज्ञान की प्राप्ति हो चुकी थी। उन्हें अवधिज्ञान से ब्रह्मदत्त के चक्रवर्त्ती हो जाने का पता चला और वे भी अपने पूर्वभव के भाई ब्रह्मदत्त से मिलने के लिए उत्सुक हुए। विहार करके कांपिल्यपुर आये और एक उद्यान में ठहर गये।

उद्यान में एक किसान कूप से पानी निकालकर पेड़-पौधों को पिला रहा था और ब्रह्मदत्त द्वारा निर्मित उस आधे श्लोक को ऊँची आवाज से गा रहा था। मुनि के कानों में उसकी आवाज पड़ी। उन्होंने उसे बुलाकर पूछा-भाई, तू इस श्लोक का आधा भाग ही क्यों बोलता है? पूरा क्यों नहीं बोलता?

किसान ने कहा-भगवन, आधा ही याद है। आप इसको पूर्ण कर देंगे तो कृपा होगी।

तब मुनि ने उस श्लोक को पूरा कर दिया। श्लोक की पूर्त्ति होने पर किसान ब्रह्मदत्त के पास गया। उत्तरार्ध सुनाया। उसे सुनकर ब्रह्मदत्त को विस्मय हुआ कि क्या यही मेरा वह भाई है? उसे किसान के रूप में जन्म लेना पड़ा है।

ब्रह्मदत्त गहरा विचार करते २ मूर्छित हो गये। तब लोगों ने किसान को पकड़ कर पीटना आरम्भ किया। किसान ने कहा—मेरा कोई अपराध नहीं है। श्लोक की पूर्त्ति एक मुनिराज ने की है।

ब्रह्मदत्त ने सावधान होकर कृषक को भरपूर इनाम दिया और स्वयं मुनिराज से मिलने उद्यान की ओर चल पड़े। दोनों भाइयों का समागम हुआ। उस समय का दृश्य अकथनीय था। दोनों को अत्यन्त प्रसन्नता थी।

दोनों के हृदय में एक दूसरे के प्रति प्रगाढ़ अनुराग था। आखिर लगातार पांच जन्मों में वे भाई-भाई के रूप में रह चुके थे। एक जन्म में दोनों भाई दासपुत्र थे। वहां से मर कर दोनों कालिंजर पर्वत पर हिरन के रूप में जन्मे। तत्पश्चात् दोनों गंगा नदी के किनारे हंस हुए। फिर दोनों ने एक भंगी के घर जन्म

लिया। ब्रह्मदत्त सोचता है—इस जन्म की हमारी माता दुराचारिणी थी और वहां की रानी भी दुराचारणी थी। रानी का पुरोहित के साथ पाप सम्बन्ध हो गया। राजा को पता चला तो उसने हमारे पिता को आदेश दिया—इस पुरोहित को कत्ल कर दो। मगर पिता को दया आ गई। उन्होंने उसे कत्ल करने के बदले अपने घर में छिपा लिया। पुरोहित हमें पढ़ाने लगा। मगर पापी पुरोहित ने अपने प्राणदाता के साथ भी धोखा किया। उसने हमारी माता के साथ दुराचार किया तो पिता ने उसे मार डालने का निश्चय कर लिया। मगर वह हमारा विद्यागुरु था, अतएव हमने उसको सावधान कर दिया और भगा दिया, उसके प्राणों की रक्षा हो गई।

पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर पहुँचा और अपनी विद्वता के कारण वहां दीवान बन गया। इधर हम दोनों भाई शाम के समय मधुर बांसुरी बजाते हुए नगर में निकलते और लोग अपना अपना काम छोड़ कर सुनने लगते थे। कुछ ईर्षालु लोगों को यह सहन न हुआ। उन्होंने राजा से शिकायत कर दी। राजा ने हमारा नगर में प्रवेश करना रोक दिया। यह अपमान हम सहन न कर सके, हमने आत्मघात करने का निश्चय कर लिया।

हम दोनों पहाड़ की एक ऊँची चोटी पर पहुँचे। वहां से गिर कर प्राण दे देना चाहते थे कि अकस्मात् एक महात्मा वहां आ पहुँचे। उन्होंने हमें देखा, हमारा सारा हाल सुना और कहा—आत्मघात मत करो। यह बहुत बड़ा पाप है। साधु बन कर तपस्या करो, आत्मकल्याण करो। महात्मा की बात हमने स्वीकार

अर्थात्—राजन्! संसार के सर्व गीत विलाप के समान हैं, सब नाटक विडम्बना हैं, समस्त आभरण भाररूप हैं और समस्त कामभोग परिणाम में दुःख देने वाले हैं।

मुनिराज पुनः बोले—

बालाभिरामेसु दुहावहेसु,
न तं सुहं कामगुणेसु रायं।
विरत्तकामाण तवोधणाणं,
जं भिक्खुणो सीलगुणे रयाणं॥

अर्थात्—राजन्! तुम समझते हो कि हम मुनि बहुत दुखी हैं और तुम बहुत सुखी हो। तुम्हारी यह धारणा मिथ्या है-अज्ञानपूर्ण है। कामभोगों से विरक्त तपोधन मुनियों को जो सुख अनुभव होता है, वह अज्ञान जीवों को प्रिय प्रतीत होने वाले तथा परिणाम में एकान्त दुःख देने वाले कामभोगों में नहीं हैं।

सच्चा सुख निराकुलता है। निराकुलता वहीं हो सकती है जहां उपाधि न हो। ज्यों ज्यों उपाधि कम होती जाती है त्यों त्यों सुख की वृद्धि होती जाती है। जहां उपाधियां बहुत, वहां दुःख बहुत। इस दृष्टि से श्रमणत्व अत्यन्त सुखद अवस्था है। श्रमणत्व का सुख स्वानुभवगोचर है। उसे दूसरा कोई समझ नहीं पाता। इसके अतिरिक्त यदि भविष्य की दृष्टि से देखा जाय तो कामभोगों को भोगने से आत्मा मलीन होती है और दुर्गति की अधिकारी बनती है। श्रमणत्व से आत्मा उज्ज्वल और ... बनती है और अनन्त असीम मुक्तिसुख का पात्र बनती

है। अतएव तुम मुझे भोगों की ओर आकर्षित करने का विचार मत करो। अपना कल्याण चाहो तो तुम्हीं संयम का सन्मार्ग अंगीकार करो।

राजन्! तुम्हें विदित ही हो गया है कि हमारा अतीत किस प्रकार अंधकारमय था। कभी पशु-पक्षी की योनि में रहे तो कभी चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए। कहीं भी सुख चैन न पा सके। आखिर धर्म का आचरण करने से ही हमारा उद्धार हुआ। हमें स्वर्ग में स्थान मिला और फिर उत्तम मनुष्यभव मिला। स्पष्ट है कि धर्म ही जीव के लिए शरणभूत है और उसी से अभ्युदय की प्राप्ति होती है। अतएव जिस धर्म के प्रताप से हमारा कल्याण हुआ है, उसी धर्म की अवहेलना करना योग्य नहीं। हमें उसी की शरण ग्रहण करना चाहिए।

याद रखना राजन्! यह जीवन शाश्वत नहीं है। आज जो कामभोग प्राप्त हैं, वे सदा के लिए नहीं हैं। एक दिन इन सब को छोड़ कर जाना पड़ेगा। देह भी साथ नहीं रहेगी। अगर जीवन काल में धर्म का आचरण न किया तो मृत्यु के पश्चात् क्या स्थिति होगी? कौन शरण देगा? कौन रक्षा करेगा? उस समय गहरा पश्चात्ताप करना पड़ेगा। मगर पश्चात्ताप करने पर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिल सकेगा। अतएव समय रहते सावधान हो जाना ही विवेकी जनों का कर्त्तव्य है। अतएव मैं तुम्हें सावधान करता हूँ राजन्! यह जीवन बड़े वेग के साथ मृत्यु की ओर भागा जा रहा है। जरा शरीर की कान्ति को हरण कर रही है। अतएव मेरी बात सुनो और असंयम को त्यागो।

मुनिराज के उद्‌बोधक वचन सुन कर ब्रह्मदत्त ने कहा- महामुने ! आपने संसार का और कामभोगों का जो स्वरूप प्रतिपादन किया है, उसे मैं जानता हूँ और जिस रूप में आपने कहा है, उसी रूप में जानता हूं। मगर असमर्थ हूँ भगवन् ! यह कामभोग मुझ से छूट नहीं सकते।

मुनिराज बोले—राजन् ! तुम कामभोगों का त्याग नहीं कर सकते तो आखिर कामभोग तुम्हें त्याग कर देंगे। पल-पल करके समय बीत रहा है, दिन पर दिन व्यतीत हो रहे हैं और यह भोग नित्य नहीं हैं। मनुष्य सावधान हो अथवा न हो, काल किसी के लिए रुक नहीं सकता। वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। अपना काम करता ही जाता है। अतएव समय रहते धर्म का आचरण कर लेना ही श्रेयस्कर है।

अगर तुम कामभोगों का त्याग करने में समर्थ नहीं हो तो कम से कम इतना तो कर ही सकते हो कि अनार्य कर्मों का त्याग करो और आर्य कर्म ही करो। अपने धर्म पर स्थिर रह कर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करो और गृहस्थधर्म का आचरण करो।

मुनिराज निस्पृह महात्मा थे। वे मोह से प्रेरित होकर ब्रह्मदत्त से वार्त्ता नहीं कर रहे थे। उनका लक्ष्य था एक जीव का उद्धार करना, उसे काम-कीचड़ से बाहर निकालना। उन्हें इसकी भी परवाह नहीं थी कि ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती है ! बहुत बड़ा राजा है। अतएव जब देखा कि मेरे कथन को चक्रवर्त्ती स्वीकार नहीं कर सकता तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया—राजन् !

तेरी भावना कामभोगों को त्यागने की नहीं है तू आरम्भ और परिग्रह में लिप्त हो रहा है। तो अब मैं चलता हूं। इतनी देर तक वृथा ही तेरे साथ प्रलाप किया। मेरा उपदेश निष्फल गया।

मुनिराज अपना कर्त्तव्य पूर्ण करके चल दिये। ब्रह्मदत्त तीव्र कर्मोदय से काम भोगों से विरक्ति धारण न कर सका। वह जीवनपर्यन्त विषयभोगों में आसक्त रहा। जीवन का अन्त होने पर देह त्याग कर उसे सातवें नरक में, अप्रतिष्ठान नामक नारकावास में, नारक के रूप में जन्म लेना पड़ा। उधर चित्त मुनि संयम साधना करके मुक्त हुए।

यह है पहले उदित हो कर फिर अनुदित होने वाले पुरुषों का स्वरूप। ब्रह्मदत्त को संयम के प्रताप से उच्चदशा की प्राप्त हुई मगर बाद में उसका घोर अधःपतन हुआ।

भाइयो! इस विवेचना पर ध्यान दो और आज जो स्थिति आपकी है, उससे उच्चतर स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करो। चढ़ कर गिरो मत, ऊपर ही ऊपर चढ़ते चलो। तभी अक्षय आनन्द की प्राप्ति होगी।

ब्यावर
६-८-४१

मुनिराज के उद्‌बोधक वचन सुन कर ब्रह्मदत्त ने कहा-महामुने! आपने संसार का और कामभोगों का जो स्वरूप प्रतिपादन किया है, उसे मैं जानता हूँ और जिस रूप में आपने कहा है, उसी रूप में जानता हूं। मगर असमर्थ हूँ भगवन्! यह कामभोग मुझ से छूट नहीं सकते।

मुनिराज बोले—राजन्! तुम कामभोगों का त्याग नहीं कर सकते तो आखिर कामभोग तुम्हें त्याग कर देंगे। पल-पल करके समय बीत रहा है, दिन पर दिन व्यतीत हो रहे हैं और यह भोग नित्य नहीं हैं। मनुष्य सावधान हो अथवा न हो, काल किसी के लिए रुक नहीं सकता। वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता। अपना काम करता ही जाता है। अतएव समय रहते धर्म का आचरण कर लेना ही श्रेयस्कर है।

अगर तुम कामभोगों का त्याग करने में समर्थ नहीं हो तो कम से कम इतना तो कर ही सकते हो कि अनार्य कर्मों का त्याग करो और आर्य कर्म ही करो। अपने धर्म पर स्थिर रह कर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करो और गृहस्थधर्म का आचरण करो।

मुनिराज निस्पृह महात्मा थे। वे मोह से प्रेरित होकर ब्रह्मदत्त से वार्त्ता नहीं कर रहे थे। उनका लक्ष्य था एक जीव का उद्धार करना, उसे काम-कीचड़ से बाहर निकालना। उन्हें इसकी भी परवाह नहीं थी कि ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती है! बहुत बड़ा राजा है। अतएव जब देखा कि मेरे कथन को चक्रवर्त्ती स्वीकार नहीं कर सकता तो उन्होंने साफ-साफ कह दिया—राजन्!

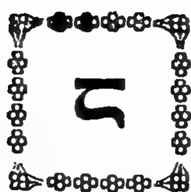
तेरी भावना कामभोगों को त्यागने की नहीं है तू आरम्भ और परिग्रह में लिप्त हो रहा है। तो अब मैं चलता हूं। इतनी देर तक वृथा ही तेरे साथ प्रलाप किया। मेरा उपदेश निष्फल गया।

मुनिराज अपना कर्त्तव्य पूर्ण करके चल दिये। ब्रह्मदत्त तीव्र कर्मोदय से काम भोगों से विरक्ति धारण न कर सका। वह जीवनपर्यन्त विषयभोगों में आसक्त रहा। जीवन का अन्त होने पर देह त्याग कर उसे सातवें नरक में, अप्रतिष्ठान नामक नारकावास में, नारक के रूप में जन्म लेना पड़ा। उधर चित्त मुनि संयम साधना करके मुक्त हुए।

यह है पहले उदित हो कर फिर अनुदित होने वाले पुरुषों का स्वरूप। ब्रह्मदत्त को संयम के प्रताप से उच्चदशा की प्राप्ति हुई, मगर बाद में उसका घोर अधःपतन हुआ।

भाइयो ! इस विवेचना पर ध्यान दो और आज जो स्थिति आपकी है, उससे उच्चतर स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न करो। चढ़ कर गिरो मत, ऊपर ही ऊपर चढ़ते चलो। तभी अक्षय आनन्द की प्राप्ति होगी।

ब्यावर
४-८-४१



अनुदय और उदय



स्तुतिः—

तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्त्तिहराय नाथ ।
तुभ्यं नमः क्षितितलामल भूषणाय ।
तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुणों का कथन कहां तक किया जाय ?

भगवन् ! आप ही तीनों लोकों के प्राणियों की पीड़ा हरने वाले हो। आपको नमस्कार हो। हे नाथ ! आप इस पृथ्वीतल के निर्मल आभूषण हो। आपको नमस्कार हो। हे राग-द्वेष

आदि समस्त विकारों के विजेता ! आप संसार-सागर का शोषण करने वाले अर्थात् जन्म मरण की अनादि परम्परा का अन्त करने वाले हो। आपको नमस्कार हो।

भगवान् आदिदेव ने सर्वज्ञ सर्वदर्शी अवस्था प्राप्त करने के पश्चात् जो उपदेश दिया, जनता के समक्ष धर्म की जो प्ररूपणा की, उसमें अहिंसा की प्रधानता है। अहिंसा उस धर्म का मूलाधार है। धर्माचार के जो भी दूसरे नियम हैं, चाहे वे मूलव्रत हों या उत्तरगुण हों, सब के भीतर अहिंसा का ही तत्त्व निहित है। भगवान् ने फर्माया—अगर अपना कल्याण चाहते हो, दुःख से बचना चाहते हो तो दूसरे किसी भी प्राणी को दुःख मत पहुंचाओ। दूसरे को दुःखी करना अपने को ही दुखी करना है। तुम्हारे दुख देने से दूसरा दुखी हो सकता है और कदाचित् नहीं भी हो सकता, मगर तुम अवश्य दुखी हो जाओगे।

इस प्रकार का उपदेश देकर भगवान् ने प्राणीमात्र की पीड़ा का निवारण किया।

भगवान् जब इस भूतल पर सशरीर विचरण करते थे, तब वे जगत् के समस्त प्राणियों में उत्तम थे और उनका उपदेश भी सर्वोत्तम था। वे सब के लिए आदर्श थे। अतएव वे प्राणि-मात्र में सर्वोत्तम होने के कारण आभूषण-स्वरूप थे।

जिसमें ऐश्वर्य पाया जाता है, वह ईश्वर कहलाता है। परम अर्थात् श्रेष्ठ ईश्वर को परमेश्वर कहते हैं। इस विशाल संसार में बहुत लोग ऐश्वर्यशाली हैं मगर उनके ऐश्वर्य में तर-तमता पाई जाती है। कोई लखपति है, कोई उससे बढ़ कर

अन्य भाइयों की अपेक्षा भी अत्यन्त कुरूप और भद्दा था। सब लोग उसके विरूप चेहरे को देख कर उपहास करते थे। हरिकेशी असुन्दर होने के साथ-साथ क्रोधी भी था। इन कारणों से उसके घर वाले भी उसे नहीं चाहते थे, बल्कि घृणा करते थे।

एक बार हरिकेशी क्रोधावेश में घर से निकल पड़ा। रास्ते में उसे एक सांप मिला, जिस पर लोग पत्थर फैंक रहे थे और घायल कर रहे थे। यह दृश्य देख कर आगे चला तो एक बोगी (दुमुहीं) मिल गई। वह बिल्कुल सांप के समान ही थी, परन्तु कोई उसे छेड़ता नहीं था। वह निर्भय होकर अपनी चाल से चली जा रही थी।

दो दृष्य देख कर हरिकेशी के मन में अचानक एक विकल्प उत्पन्न हुआ। सोचा दोनों एक ही रंग के हैं, एक ही आकार के हैं। फिर क्या कारण है कि एक को देख कर लोग मारते हैं और दूसरे को देख कर दया करते हैं? विचार करते करते ध्यान आया—सांप दूसरों को कष्ट पहुँचाता है, उसके भीतर विष भरा है, इसी कारण वह मारा जाता है। दुमुहीं किसी का कुछ भी नहीं विगाड़ती, अतः वह सताई भी नहीं जाती है। मैं सांप के समान हूं, मुझ में क्रोध का जहर भरा है, इस कारण लोग मुझे सताते हैं और इस कारण मैं घृणा की दृष्टि से देखा जाता हूँ। मैं बोगी के समान बन जाऊँ अर्थात् किसी को कष्ट न पहुँचाऊँ तो मेरा जीवन पलट सकता है।

इस प्रकार सोचता-सोचता और आगे बढ़ता बढ़ता हरिकेशी भगवान् महावीर के समवसरण में पहुंचा। भगवान् का उपदेश सुना। भगवान् के दरबार में जाति की पूछ नहीं, गुणों

की पूछ होती है। वहां जाति को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। जिसकी अन्तरात्मा में वैराग्य भाव जागृत हुआ वही भगवान् का शिष्यत्व स्वीकार कर सकता है। भगवान् ने हरिकेशी को संयम का पात्र समझ कर दीक्षा प्रदान की।

अब हरिकेशी ऋषिराज बन गए।

शरीर की आकृति बदलना मुश्किल है किन्तु निमित्त मिल जाने से स्वभाव (प्रकृति) या चाल-ढाल में परिवर्त्तन हो जाता है। कहा जा सकता है कि कोयले को साबुन का निमित्त मिल जाने पर भी वह सफेद क्यों नहीं होता? उत्तर यह है कि भाई! निमित्त-निमित्त में भी फर्क होता है। कोयले को भट्ठी में डाला जायगा तो वह सफेदी पर आ जाएगा। भिन्न-भिन्न कामों के लिए भिन्न-भिन्न निमित्त अपेक्षित होते हैं। देखो चाण्डाल हरिकेशी को भगवान् महावीर का निमित्त मिला तो वह ऋषिराज बन गया।

कुसंगति मिलने पर भी कोई न बिगड़े तो समझो कि वह भाग्यशाली है और सत्संग पाकर भी कोई न सुधरे तो समझो कि अभागा है-दरिद्र है।

उपादान के अनुरूप निमित्त मिल जाने से कार्य शीघ्र सम्पन्न हो जाता है। क्योंकि कोई भी कार्य एक कारण से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि अनेक आवश्यक कारणों के मिलने पर ही होता है। उपादान के अभाव में निमित्त कुछ भी नहीं कर सकते और इसी प्रकार निमित्त के कारणों के अभाव में उपादान भी कुछ नहीं कर सकता। कुछ लोग आजकल निमित्त का निषेध करके एकान्त उपादान को ही कारण मानते हैं, परन्तु

उनकी मान्यता प्रत्यक्ष बाधित है। आटा उपादान है और चकला-वेलन आदि निमित हैं। इनका संयोग होने पर ही रोटी बनती है। इनमें से किसी भी एक कारण से रोटी नहीं बनती।

ऋषिराज हरिकेशी ने मासखमण का उग्र तप करना प्रारंभ किया और संयम की उग्र साधना करते हुए विचरने लगे।

एक दिन ऋषिराज एक वृक्ष के नीचे ठहरे हुए थे कि एक देवता उनकी तपस्या देखकर प्रसन्न हो गया। वह ऋषि का परम भक्त और सेवक बन गया और सेवा में ही रहने लगा। देवता गुणों से प्रसन्न होते हैं।

चन्दन ज्यों-ज्यों घिसा जाता है त्यों-त्यों उसकी खुशबू बढ़ती और फैलती जाती है। ऋषिराज ज्यों-ज्यों तपस्या करने लगे, परीषह और उपसर्ग सहन करते गए त्यों-त्यों उनके आत्मिक गुणों का सौरभ भी वृद्दिंगत होता चला गया। वे अक्रोधी, शान्त, निरभिमानी, सहनशील और संतोषी हो गये। उनकी आत्मा पवित्र और निर्मल होती चली गई।

धर्म के क्षेत्र में जात-पांत का कोई महत्त्व नहीं है। कहा है—

जात-पांत पूछे नहिं कोई,
हरि को भजै सो हरि का होई।

एक बार किसी राजा ने मंत्री से कहा—मैं सच्चे महात्मा की संगति करना चाहता हूँ। तब मंत्री ने कहा—सभी महात्माओं को आमंत्रित किया जाय तो पता लग जाएगा कि कौन महात्मा सच्चे हैं।

मंत्री के कथनानुसार आसपास के सभी ज्ञात महात्मा बुलाये गए। राजा ने सब का यथोचित सत्कार सन्मान किया। सबको सभा में आसीन किया गया। सबके बाद एक अष्टावक्र ऋषि आए। उनके शरीर की बनावट अनोखी थी। जगह २ से शरीर टेढ़ामेढ़ा था और सभी अंग बेडौल थे। उन्हें देखकर पहले आये हुए सभी ऋषि हँसने लगे। उनका मजाक करने लगे किसी ने कहा—सभा की रौनक अब खिलेगी! किसी ने कुछ और किसी ने कुछ कहा।

अष्टावक्र इस प्रकार अपना अपमान होते देखकर वापिस लौटने को तैयार हुए। राजा ने बहुत अनुनय-विनय की। तब अष्टावक्रजी बोले-राजन्! मुझे किसी पर क्रोध नहीं है, मगर चमारों की सभा में बैठकर मैं क्या करूँगा?

राजा—महाराज यह सब ऋषि हैं, चमार कैसे?

अष्टावक्र-यह सब चमड़ी के उपासक हैं। चमड़ी को देखकर प्रसन्न अप्रसन्न होते हैं। इनमें गुणानुराग नहीं है।

तात्पर्य यह है कि महात्माओं का रूप-रंग नहीं देखा जाता। उनके कुल का और जाति का विचार नहीं किया जाता। असली तत्त्व तो गुणों का विकास है। जो पुरुष ऊँची कहलाने वाली जाति में उत्पन्न होकर भी चारित्र से भ्रष्ट है, शीलरहित है; वह कदापि सन्मान का पात्र नहीं हो सकता। इसके विपरीत, अगर कोई हीन समझी जाने वाली जाती में जन्म लेकर भी सदाचार-सम्पन्न है, सुशील है, संयत है और उसके सद्गुणों का विकास हो गया है तो वह सब प्रकार से आदरणीय है, सन्माननीय है।

यही कारण था कि देवता हरिकेशी ऋषि के गुणों का भक्त हो गया। देखो, नैनसिंहजी महाराज के गुणों से प्रभावित होकर और उनकी तपस्या के प्रभाव को देखकर एक देवता उनकी सेवा में रहने लगा। जब वे जावद में पहुंचे और स्थानक में ठहरे तो पिछली रात में श्रावक सामायिक करने आए। उन्होंने देखा कि स्थानक के द्वार पर एक शेर बैठा है। उसे देखकर वापिस चले गए। बाद में पता चला कि वह शेर वास्तव में देवता था, शेर नहीं था।

तो वास्तविक महत्त्व गुणों का है। गुणी जन गुणों का ही आदर करते हैं। कहा है—

गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः।

गुण ही पूजा के पात्र हैं। वेष या उम्र से किसी की प्रतिष्ठा नहीं होती। गुणों को ही नमस्कार किया जाता है।

एक दिन हरिकेशी मुनि वाणारसी नगरी के बाहर किसी देवकुल में ठहरे थे और वहां ध्यान में लीन हो कर खड़े थे। अंधेरी रात्रि में राजकुमारी अपनी सखियों के साथ वहां देवोपासना के लिए आई। देवपूजा करने के पश्चात् प्रदक्षिणा करते समय हरिकेशी मुनि के ऊपर उसकी दृष्टि पड़ी। हरिकेशी मुनि जैसा कि बतलाया जा चुका है, जन्म से ही कुरूप थे और फिर घोर तपश्चरण से उनका शरीर और भी अधिक ,कृश एवं दुर्बल हो गया था। उसे देखकर राजकुमारी को घृणा उत्पन्न हुई और उसने शरीर पर थूक दिया।

राजकुमारी ने मुनिराज का घोर अपमान किया। उनकी

सेवा में रहने वाला यक्ष देव इस अपमान से अत्यन्त कुपित हुआ। यद्यपि मुनिराज अखण्ड आत्मध्यान में लीन थे और मान-अपमान की भावना से ऊपर उठ चुके थे, तथापि देवता का क्रोध उबल पड़ा। उसने राजकुमारी को समुचित दण्ड देने के विचार से उसे उठा कर राजमहल में फेंक दिया।

राजकुमारी की दुर्दशा देखकर महल में कोलाहल मच गया। राजा-रानी की घबराहट का पार न रहा। राजा ने नगर के सभी अनुभवी और कुशल वैद्यों को बुलवाया और चिकित्सा करवाई, मगर कोई भी औषध कारगर नहीं हुई। राजकुमारी की हालत में किंचित् भी अन्तर न पड़ा। तब उसके शरीर में प्रवेश करके यक्षदेव ने कहा—इसने मेरे मन्दिर में ठहरे हुए एक महान् तपस्वी का अपमान किया है, अतएव मैंने इसे उचित दण्ड दिया है। अगर राजकुमारी उसी तपस्वी के साथ विवाह करने को तैयार हो तो इसके प्राण बच सकते हैं।

राजा ने कुमारी की ओर से यक्ष की बात स्वीकार कर ली। यक्ष ने उसे छोड़ दिया और कुमारी स्वस्थ हो गई।

राजा ने कन्या को विविध प्रकार के विवाहोचित अलंकारों से अलंकृत करके और विवाह की सामग्री साथ लेकर कन्या के साथ ऋषि की सेवा में प्रस्थान किया। देवकुल में पहुँच कर ऋषि को नमस्कार किया और निवेदन किया—'भगवन्! आप इस कन्या को स्वीकार करें। इसके कर को अपने तपःपूत कर के स्पर्श से पावन कीजिए।' पिता की इस अभ्यर्थना का, मौन रह कर राजकुमारी ने अनुमोदन किया।

हरिकेशी मुनि ने इस घटना को अपने ध्यान में भंग समझ कर और उपसर्ग समझ कर कहा—राजन् ! मैथुनप्रवृत्ति ज्ञानियों के द्वारा अत्यन्त निन्दित है। पांच पापों में यह प्रधान पाप है। इस पाप की परम्परा लम्बे काल तक चलती रहती है। हम ऋषि इससे सर्वथा निवृत्त हो चुके हैं। हम उस मकान में वास भी नहीं करते जहां स्त्री हो। स्त्री का स्पर्श करना भी हमारे लिए वर्जित है। एकान्त में स्त्री के साथ संभाषण करना भी शास्त्र में निषिद्ध है। हमने मन वचन काय से पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा अंगीकार की है, हम तो मुक्ति रूपी रमणी के उपासक हैं, जिसकी प्राप्ति ब्रह्मचर्यपालन से ही होती है। अतएव मैं आपकी प्रार्थना स्वीकार नहीं कर सकता।

तत्पश्चात् ऋषि ने राजकुमारी को लक्ष्य करके कहा—भद्रे ! तुम मुझसे दूर ही रहो। मैंने तुम्हारा स्पर्श नहीं किया है। तुम्हारे प्रति जो व्यवहार हुआ है, वह मेरे द्वारा नहीं, मेरी सेवा में रहने वाले यक्ष के द्वारा हुआ है। उस व्यवहार का मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। मुझ पर उसका कोई उत्तरदायित्व भी नहीं है।

मुनि का स्पष्ट इंकार सुन कर राजा राजकुमारी के साथ अपने भवन चला गया। राजा ने पुरोहित को बुलाकर व्यवस्था मांगी कि अब इस कन्या का क्या करना चाहिए ?

पुरोहित ने कहा महाराज, यह कन्या अब परित्यक्ता ऋषिपत्नी है। इसका विवाह किसी ब्राह्मण के साथ ही हो सकता है।

राजा ने सोच-विचार कर उसी पुरोहित के साथ कन्या ा विवाह कर दिया। कुछ दिनों तक राजकन्या के साथ विषय-ुख भोगने पश्चात् एक दिन पुरोहित ने कहा—महाराज, राज-ुमारी को ऋषिपत्नी के स्थान पर अब यज्ञपत्नी बनाना चहाता ूँ और इसके लिए एक बड़े यज्ञ का आयोजन करना चाहता हूँ।

राजा ने यज्ञ की आज्ञा दे दी। देश-देशान्तर से बड़े-ड़े याज्ञिक ब्राह्मण विद्वान् बुलाये गये। यज्ञ के निमित्त आये ुए विद्वानों के लिए यज्ञ-मंडप में बढ़िया से बढ़िया भोजन नवाया गया।

संयोगवशात् उसी समय हरिकेशी मुनि मासखमण की ारणा करने के लिए उधर जा पहुंचे। मुनि का विरूप शरीर ापस्या से सूखा हुआ था। अतएव मुनि को यज्ञमंडप में आते ेख वे ब्राह्मण विद्वान् उपहास करने लगे। उन्होंने नाना-प्रकार के ाने मारे। किसी ने कहा-अरे यह पिशाच सरीखी आकृति ाला कौन इस ओर आ रहा है? कितना काला-कलूटा है! देखने में कैसा भयंकर जान पड़ता है!

दूसरे ने कहा—इसकी नाक तो देखो जरा! कैसी चपटी और बदसूरत है।

तीसरा बोला—इसका सभी कुछ अनूठा है। कपड़े कितने जीर्ण हैं जैसे किसी घूरे से उठा लाया हो!

इस प्रकार वे ब्राह्मण आपस में बात करते हुए मुनि के ाति अपनी घृणा प्रकट करने लगे।

मुनि अपने ध्यान में मग्न आगे बढ़ते जा रहे थे। जब निकट पहुँचे तो एक ने कहा—पिशाच रूपधारी महाराज, किस ओर से आपका पदार्पण हुआ है! आपके इस अनूठे चेहरे को देख कर हमारे नेत्र सदा के लिए कृतार्थ हुए। मगर यह तो कहो कि यहां आने का प्रयोजन क्या है? किस लिए खड़े हो?

ब्राह्मणों के तिरस्कार मय वचन सुन कर मुनि ने मौन धारण कर लिया। उसी समय उनके सेवक यक्ष ने मुनि के शरीर में प्रवेश करके कहा—ब्राह्मणों! मैं संयमी साधु हूँ। ब्रह्मचारी हूँ। मेरे पास धन, धान्य आदि कोई परिग्रह नहीं है। मैं भोजन बनाने पकाने के आरंभ समारंभ में नहीं पड़ता। दूसरों ने अपने लिए जो भोजन बनाया होता है, उसमें से बचा-खुचा लेकर शरीर का निर्वाह करता हूं और शरीर का उपयोग संयम की साधना के लिए करता हूँ। मैं यहां भिक्षा के लिए ही आया हूं।

ब्राह्मण बोले—भिक्षो, यहां जो भोजन बना है, वह सिर्फ ब्राह्मणों के लिए ही है। तुम यहां से चले जाओ। यह भोजन तुम्हें नहीं मिल सकता।

यक्ष ने कहा—मुझे पुण्यक्षेत्र समझ कर भिक्षा दे दो। इससे तुम्हारा भला ही होगा।

ब्राह्मण—पुण्यक्षेत्र कौन है, यह हम खूब समझते हैं। ब्राह्मणों के सिवाय अन्य कोई भी पुण्यक्षेत्र नहीं हो सकता। तुम चले जाओ।

यक्ष—भाइयों! पुण्यक्षेत्र तो वही है जो हिंसा आदि पापों के और क्रोधादि कषायों के त्यागी होते हैं। जाति से

ब्राह्मण हो कर भी जो पापाचारी हैं, वे पुण्यक्षेत्र नहीं होते। इसके विपरीत, संयमी, सदाचारी, ब्रह्मचारी चाहे किसी भी जाति के हों, पुण्यक्षेत्र हैं।

यक्ष का यह उत्तर सुन कर ब्राह्मण कुपित होकर मुनि को मारने--पीटने को तैयार हुए। राजकुमारी भद्रा वहां उपस्थित थी और वह मुनि को पहचान गई थी। वह आगे आई और उसने ब्राह्मणों को मुनि के प्रति दुर्व्यवहार करने के लिए इन्कार किया। मगर ब्राह्मण क्रोधावेश में थे। उन्होंने राजकुमारी के कथन की उपेक्षा करके मुनि को पीटने का उपक्रम किया ही था कि यक्ष ने अपने दैवी प्रभाव से उन्हें रोक दिया और साथ ही उनकी अच्छी मरम्मत भी की। पीटने वाले स्तब्ध रह गए।

यह हालत देखकर सोमदेव अपनी पत्नि के साथ मुनि के निकट आया। उसने क्षमायाचना की।

मुनि ने कहा—तुम लोगों के प्रति मेरे मन में न पहले द्वेष था, न अब है। इन ब्राह्मणों की ताड़ना मेरे सेवक यक्ष ने की है।

आखिर सोमदेव ने मुनिराज हरिकेशी से भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की। मुनिराज ने सोचा-अगर भिक्षा न लूँगा तो इनके चित्त में बहुत पीड़ा होगी। यह सोचकर उन्होंने सम-भाव से आहार ग्रहण किया।

उक्त घटना को देखकर जातिमद से उन्मत्त बने ब्राह्मणों को भी सद्बोध प्राप्त हुआ। वे कहने लगे—

सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो,
न दीसई जाइविसेस कोइ।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुँ,
जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभाग ॥

अर्थात् – तप की विशेषता तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है, मगर जाति की कोई विशेषता दिखाई नहीं देती! हरिकेशी साधु हमारे सामने हैं। वह चाण्डाल के लड़के हैं, मगर उनकी ऋद्धि देखो। कितनी शानदार है। वास्तव में जाति कल्पना मात्र है, असली चीज तो तपस्या ही है।

अन्त में ब्राह्मणों ने मुनि की स्तुति की। कहा- महात्मन्! किसी का कोई अङ्ग और किसी का अङ्ग पूजने योग्य होता है, किन्तु आपका तो सारा ही अङ्ग पूजनीय है।

मुनिराज भिक्षा लेकर वहां से चल दिये। उन्होंने तीव्र तपश्चर्या करके आठों कर्मों का समूल क्षय किया और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होकर, भवभ्रमण का अन्त करके मोक्षलाभ किया।

भाइयों! अनुदित होकर उदित होने वाले पुरुषों का यह स्वरूप है। जो पहले कर्मोदय के कारण हीन दशा में रहते हैं, मगर अपने आत्मिक वीर्य को प्रकट करके, धर्म के मार्ग पर आरूढ़ होकर, उच्च और उच्चतर स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, वे महापुरुष इस श्रेणी में आते हैं।

उदित होकर उदित होने वालों को अपने विकास में अधिक जोर नहीं लगाना पड़ता। उन्हें तीव्र एवं उग्र पराक्रम नहीं

फोड़ना पड़ता। उनके लिए बहुत कुछ मसाला तैयार रहता है। मगर जो गिरी हालत में हैं, उनको ऊँचे चढ़ने में भारी प्रयत्न करना पड़ता है। मगर भगवान् के इस कथन से यह बखूबी सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह कैसी भी हीन दशा में क्यों न हो, अगर दृढ़ संकल्प के साथ पुरुषार्थ करे और उसका पुरुषार्थ सही दिशा में हो तो उसके भी सामने विकास की असीम संभावनाएँ विद्यमान हैं। अतः किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं। आत्मा की अनन्त शक्ति पर भरोसा रख-कर जो मनुष्य भगवान् ऋषभदेव के मार्ग पर चलेंगे उनका अवश्य ही अभ्युदय होगा, चरमसीमा का अभ्युदय होगा और वे शाश्वत एवं अनन्त सुख के भाजन बन सकेंगे।

भाइयों! हरिकेशी मुनि के चरित से शिक्षा ग्रहण करो और बहिर्दृष्टि को त्याग कर अन्तर्दृष्टि बनो। जाति-पांति से आत्मा का उद्धार होने वाला नहीं है। आत्मा के कल्याण का एक ही मार्ग है और वह यह है कि वीतराग के मार्ग पर चलकर सद्गुणों को प्राप्त करो। गुणों से ही उद्धार होगा और सदा के लिए आनन्द ही आनन्द हो जाएगा।

ब्यावर
५-८-४१



अनुदय और अनुदय



स्तुति:—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित बुद्धिबोधात्,
त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधातात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ? पुरुषोत्तमोऽसि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? आपके गुणों का कथन कहां तक किया जाय ?

प्रभो ! आपके बोधबोध (ज्ञान) की पूजा देवों द्वारा की गई है, आप केलबोधि से सम्पन्न हैं. अत: आप ही सचे 'बुद्ध' हैं भगवन् ! आप ही वास्तव में शंकर हैं क्योंकि आप तीनों जगत्

का कल्याण करने वाले हैं—प्राणी मात्र को सुख देने वाले हैं। हे धीर! आप ही सच्चे 'ब्रह्मा' हैं, क्योंकि आपने मोक्षमार्ग की विधि का विधान किया है। भगवन्! अपनी इन अद्वितीय विशेषताओं के कारण स्पष्ट है कि आप ही वास्तव में 'पुरुषोत्तम' हैं। हे प्रभो! इस अवसर्पिणी काल में, जब कर्मयुग का आरम्भ नहीं हुआ था, लोग कल्पवृक्षों से अपना जीवन निर्वाह करते थे, परिवार और समाज का निर्माण नहीं हुआ था, कला-कौशल कृषि आदि से लोग अनभिज्ञ थे, युगल रूप में जीवन यापन करते थे और धर्मतत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ थे, उस समय आपने ही इस क्षेत्र में अवतरित होकर राज्यशासन, समाजव्यवस्था, नीति; कला और धर्म की स्थापना की थी। तत्कालीन मानवजाति के जीवन में आ मूलचूल क्रान्ति की थी। आधुनिक सभ्यता के बीज बोये थे। तब से लेकर आज तक अनेक प्रकार के छोटे बड़े परिवर्त्तन हुए, मगर उन सब का मूल आधार वही रहा, जो आपने दिया था। इस कारण आपका इस जगत् पर असीम उपकार है। हे नाथ! आपको सर्वप्रथम प्रणाम है।

श्रीठाणांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के पुरुष बतलाये हैं—(१) उदित हो कर पुनः उदित होने वाले (२) उदित हो कर अनुदित होने वाले (३) अनुदित हो कर उदित होने वाले और (४) अनुदित हो कर पुनः अनुदित होने वाले।

इनमें से तीन प्रकार के पुरुषों का उदाहरण के साथ वर्णन कर दिया है। चौथे प्रकार के पुरुष वे हैं जो प्रारम्भ में भी हीन अवस्था में रहते हैं और अन्त में भी हीनावस्था में रहते हैं। वे अपने जीवन में कुछ भी उत्क्रान्ति नहीं कर पाते।

साधारणतया देखा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य में महत्त्वाकांक्षा होती है। प्रत्येक व्यक्ति अपना विकास चाहता है। जो जिस स्थिति में है, वह उससे ऊपर ही उठना चाहता है। यह अभिलाषा मनुष्य में स्वभावतः पाई जाती है। इसकी पूर्त्ति के लिए मनुष्य प्रयत्न भी करता है और कई तो सुख-चैन की परवाह न करते हुए रात दिन अपनी उन्नति की ही चेष्टा में यत्नवान् बने रहते हैं।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि सभी मनुष्यों की एक सी भावना रहती है और सभी एक ही क्षेत्र में अग्रसर होने की अभिलाषा करते हैं। सब की मति और गति एक-सी न कभी हुई है और न होगी। विचित्र प्रकार के कर्मों का उदय, विभिन्न प्रकार की रुचि, अलग अलग तरह का वातावरण; यह सब बातें मनुष्यों के विकास क्षेत्र को पृथक् बनाती है।

मगर कुछ प्राणी कर्म के मारे ऐसे भी होते हैं जो पूर्वभवों में पाप करके आये हैं, पाप की प्रचुरता वाले हैं, अतएव वे बड़ी खराब स्थिति में उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने के बाद भी उनके कार्यकलाप ऐसे घृणित होते हैं कि अन्त में मर कर उन्हें घोर दुःखमय दुर्गति में जाना पड़ता है। ऐसे पुरुष अत्यन्त दयनीय हैं।

अनुदित होकर अनुदित होने वालों में काल शौकरिक (कालू कसाई) गिना गया है। इसने पूर्वजन्म में घोर अशुभ कर्मों का उपार्जन किया था, अतएव उसे अत्यन्त नीच कुल और जाति की प्राप्ति हुई। फिर भी वह अतीव पापकर्म करता रहा।

प्रतिदिन शिकार खेलने में ही व्यस्त रहता था और घर आकर पांच सौ भैंसे मारता था।

एक दिन श्रेणिक महाराज ने उसे भैंसों की हत्या से बचाने के लिये कारागार में बंद करवा दिया। मगर वह पापी जीव वहां भी हिंसा से विरत न हुआ। उसने वहां अपने शरीर का मैल उतार-उतार कर उससे भैंसे बनाये और उनकी हिंसा की। उसे घोरातिघोर पाप-कमाई करते हुए भी तनिक विचार नहीं आता था। इस रौद्र पाप कर्म के परिणामस्वरूप उसे मृत्यु के पश्चात् सातवें नरक में उत्पन्न होना पड़ा है। अर्थात् वह अनुदित होकर पुनः अनुदित हुआ।

भाइयों! प्राणिहिंसा घोरतम पाप है। प्राण सभी को प्रिय होते हैं। संसार के सभी प्राणी जीवित रहने की अभिलाषा रखते हैं, मृत्यु की कामना कोई नहीं करता। जीवन में यदि कोई सब से बड़ी व्यथा हो सकती है तो वह प्राणविनाश ही है। यह ऐसी बात है जिसे प्रत्येक मनुष्य स्वयं अपने अनुभव से समझ सकता है। फिर भी कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य निर्दय होकर प्राणी का वध कर डालता है!

इस प्रकार की निर्दयता का मूल कारण जिह्वा लोलुपता है। जीभ के क्षणिक सुख के लिए मनुष्य कितना बड़ा पाप कर डालता है! अपने जैसे चलते-फिरते एवं सुख के अभिलाषी प्राणी की हत्या करके उसे अपने पेट में डाल लेना मानवता नहीं, दानवता से भी नीच मनोवृत्ति है।

सृष्टि में नाना प्रकार के जीव-जन्तु हैं। उन सबमें मनुष्य उत्तम माना जाता है। उसमें विवेक और विचार करने का विशेष सामर्थ्य है। अपने हिताहित को अन्य प्राणियों की अपेक्षा वह अधिक सोच सकता है। भविष्य का भी विचार कर सकता है। अतएव उसे सब प्राणियों का बड़ा भाई कहा जाय तो कुछ अनुचित नहीं होगा। लेकिन यह बड़ा भाई अपने छोटे भाइयों को डकार जाता है। उन्हें भक्षण कर जाता है। यह अत्यन्त खेद और विस्मय की बात है।

काल शौकरिक बड़ा ही पापी जीव था। उसने जिन्दगी भर जीवहिंसा का घोर पाप किया। वह पंचेन्द्रिय प्राणियों के प्राणों से पिशाच की तरह खिलवाड़ करता रहा। अन्त में उसे अपनी करतूत के अनुरूप ही फल भोगना पड़ा। सातवें नरक की घोर अतिघोर व्यथाएँ आज उसे सहन करनी पड़ती हैं। वह अभागा जीव अनुदित होकर अनुदित ही रह गया। उसका न प्रारम्भ में उदय हुआ और न अन्त में ही उदय हुआ।

यह चारों प्रकार के पुरुष आज भी प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं। जो जीव पूर्वोपार्जित शुभ कर्मों की पोटली बांधकर आये हैं, उनको इस जन्म में सब प्रकार के सुख साधन उपलब्ध हैं। वे शरीर से सुन्दर, स्वस्थ और परिपूर्ण पंचेन्द्रिय वाले हैं। धन-धान्य और कुटुम्ब-परिवार से समृद्ध हैं। सर्वत्र आदर-सन्मान के भाजन बनते हैं। उनकी वाणी मान्य होती है। उन्हें किसी भी प्रकार का कोई अभाव नहीं होता। उनकी सभी इच्छाएँ पूर्ण होती हैं। यह सब होने पर भी वे पापकार्यों में प्रवृत्ति नहीं परोपकार और सेवा करते हैं। संक्षेप में, उन्हें

जो भी शक्ति या सामग्री प्राप्त है, उसका वे सदुपयोग ही करते हैं। प्रतिदिन अपनी शक्ति के अनुसार गरीबों को भोजन-वस्त्र आदि दान करते हैं, गुरुकुल अनाथालय, विधवाश्रम, गोशाला आदि संस्थाओं की स्थापना करते हैं, उनका संचालन करते हैं या उनके लिए दान देते हैं। त्यागी महापुरुषों की–मुनियों को सेवा–उपासना करते हैं। श्रद्धा के अनुसार धर्म का आचरण करते हैं। व्यापार-व्यवहार में सदैव प्रामाणिक रहते हैं। अन्याय और अनीति का न पोषण करते हैं, न स्वयं आचरण करते हैं। वे अपने सुख की अपेक्षा भी सामूहिक सुख को अधिक महत्त्व देते हैं। देश और समाज के उत्थान में निरत रहते हैं और उसके अभ्युदय में ही अपना अभ्युदय मानते हैं। वे प्रियदर्शी, प्रियाचारी और प्रिय वक्ता होते हैं। यथा संभव दूसरों के सुख के लिए ही चेष्टा करते हैं। कभी किसी का अहित तो कर ही नहीं सकते। उनके पास जो भी शक्ति है, वह परहित में ही लगती है।

ऐसे पुरुष उदय को प्राप्त होकर पुनः उदय की ही सामग्री एकत्रित करते हैं।

उदय को प्राप्त होकर उदय की सामग्री वही प्राप्त कर पाता है जो अपने उदय का अभिमान नहीं करता। मनुष्य के मन में अभिमान आया कि उसका पतन प्रारम्भ हुआ। अभिमान पतन की प्रथम सीढ़ी है। सच तो यह है कि अभिमान एक बड़ा मानसिक रोग है। यह रोग जब मनुष्य के मन को घेर लेता है तब मनुष्य सही वस्तुस्थिति का आकलन नहीं कर सकता। वह अपने को सब कुछ समझता है और दूसरों को कुछ भी नहीं।

स्वयं निगुर्ण होने पर भी अपने को समस्त गुणों का भण्डार मानता है। चार अक्षर पढ़ लिये हों तो पंडितों का सिरताज समझने लगता है। नतीजा यह होता है कि उसकी उन्नति अवरुद्ध हो जाती है। उसे अपने में कोई कमी ही नजर नहीं आती, जिसकी पूर्ति वह आवश्यक समझे। फिर उन्नति हो तो कैसे हो?

अभिमानी व्यक्ति बड़ों का आदर नहीं कर पाता। उसमें नम्रता के स्थान पर अकड़ उत्पन्न हो जाती है। अतएव अपने गुरुजनों के शुभाशीर्वाद से वह वंचित हो जाता है।

अभिमानी को दूसरे तुच्छ दिखाई देते हैं, परन्तु लोगों की दृष्टि में वह स्वयं तुच्छ बन जाता है। सब लोग उसको घृणा की दृष्टि से देखते हैं।

भाइयों! इस प्रकार अभिमान के दोष जान कर आपको अभिमान से बचना चाहिए। जब कभी अभिमान उत्पन्न हो तो अपने से हर बात में ऊँचे व्यक्तियों को देख कर उसे शान्त कर देना चाहिए, क्योंकि:—

अधोऽधः पश्यतः कस्यः, महिमा तोयचीयते।
उपरि उपरि पश्यन्तः, सर्वएव दरिद्रति॥

अर्थात्—इस संसार में सभी प्रकार के व्यक्ति विद्यमान हैं। आप जिस स्तर पर हैं, उससे ऊंचे स्तर के भी हजारों-लाखों मिलेंगे और नीचे स्तर के भी। परन्तु जब आप अपने से नीचे स्तर वालों पर दृष्टि डालते हैं तो अपने को महान् अनुभव करते हैं और जब ऊँचे स्तर वालों को देखते हैं तो अपने आपको दरिद्र अनुभव करने लगते हैं।

अतएव जब आपके चित्त में अहंकार की बिमारी उत्पन्न हो तो उसकी चिकित्सा के लिए यही आवश्यक है कि आप ऊँची श्रेणी के लोगों को देखें। और जब कभी आपको हीनता का भास हो और आप अपनी दृष्टि में अपने को तुच्छ अनुभव करने लगें तो आवश्यक कि आप नीची श्रेणी के लोगों पर निगाह डालें।

कइ व्यक्ति पूर्वार्जित पुण्योदय से इस जन्म में अखूट सम्पत्ति प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु उस सम्पत्ति का सदुप-योग न करके भोग-विलास, शादी मौसर में तथा पापकर्मों में उसका व्यय करते हैं। धर्मध्यान में चित्त नहीं लगाते हैं और निरन्तर आकुल-व्याकुल बने रहते हैं। ऐसे मनुष्य जब देह त्याग कर नवीन भव ग्रहण करते हैं तो उनकी दशा बहुत खराब होती है। अर्थात् उन्हें नरक में जाना पड़ता है। वे उदित होकर अस्त होने वाले हैं।

कई मनुष्य ऐसे हैं जो पूर्व भव में कमाई करके नहीं आये हैं और इस जन्म में सब प्रकार से दरिद्री हुए हैं, मगर अब खूब धर्मध्यान करते हैं; संतों की सेवा-सत्संगति करते हैं और उच्च भावना रखते हैं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने अतीत की भूल सुधार ली है, वे अंधकार से प्रकाश में आ गये हैं और प्रकाश-मय पथ पर अग्रसर हो गये हैं। ऐसे अस्त होकर उदित होने वाले प्राणी धन्यवाद के पात्र हैं। उनका अतीत कितना ही अन्धकारपूर्ण हो रहा हो, भविष्य उज्ज्वल है। वे स्वर्ग में जन्म लेकर सुखोपभोग करते हैं।

कुछ लोग पूर्व जन्म में पाप का उपार्जन करके अतिशय दीन-हीन एवं दुःखमय अवस्था प्राप्त करते हैं और यह जीवन भी पाप ही पाप में व्यतीत करते हैं, ऐसे लोगों का भविष्य भी अन्धकारमय होता है। कोई भी शक्ति उन्हें दुःख से नहीं बचा सकती।

न स मन्त्रो न सा बुद्धिर्न स दोष्णां पराक्रमः।
अपुण्योपस्थितं येन, व्यसनं प्रतिरुध्यते॥

अर्थात्—संसार में ऐसा कोई मन्त्र नहीं है, कोई बुद्धि नहीं है और कोई पराक्रम नहीं है, जिसके द्वारा उपार्जित किये हुए पाप के फलस्वरूप आता हुआ संकट रोका जा सके।

पाप के फल से बचने के लिए पापी जीव जो प्रयत्न करता है, वह उलटा उसके दुःख का कारण बन जाता है। उसके सारे प्रयत्न निष्फल ही नहीं जाते, वरन् विपरीत फल देने वाले सिद्ध होते हैं। कहा है—

अमृतं कालकूटं स्यात्, मित्रं शत्रुः सुधीरधीः।
सज्जनो दुर्जनः पापाद्, विपरीतं फलं त्विह॥

पापी पुरुष के लिए अमृत कालकूट विष बन जाता है, मित्र शत्रु हो जाता है, उसकी बुद्धि कुबुद्धि हो जाती है और सज्जन भी दुर्जन का रूप धारण कर लेते हैं।

तात्पर्य यह कि पाप की शक्ति इतनी प्रबल होती है कि उसके सामने किसी का टिकाव नहीं हो पाता। वह अपना फल देकर ही चुकता है। इसी कारण ज्ञानी जनों का उपदेश है कि—

पाप करे मत अए दिला, है पाप बड़ा बलवान् ।
चौरासी लख योनि में, करे पाप हैरान ॥टेक॥
फूटा जहाज दरियाव में ज्यों पानी घुसता आन ।
ऐसे आश्रव के द्वारे, कर्म बन्धे पहचान ॥१॥
खुश हो कर हिंसा करे रे, बोले झूठ जबान ।
लालच के वश होय के, चोरे पर धन आन ॥२॥
सुन्दर देखी कामणी रे, मोह में हो गलतान ।
परिग्रह को संग्रह करे, समझे नहीं अज्ञान ॥३॥

यह पाप बड़ा बलवान् है। यह जीव को चौरासी लाख योनियों में अत्यन्त दुःखी बनाता है इसलिए इससे बचते रहने में ही जीव का कल्याण है।

हां तो जो जीव पूर्वजन्मों में पाप की कमाई करके आए हैं और इस जन्म में भी पाप की ही कमाई कर रहे हैं, उनकी बुद्धि इतनी मलीन और उलटी हो जाती है कि उन पर अच्छे से अच्छे उपदेश का भी प्रभाव नहीं पड़ता।

लोग दाग में जाते हैं तो मैले कपड़े पहनते हैं और विवाह में जाते हैं तो बढ़िया कपड़े पहन कर जाते हैं। इसी प्रकार नरक में जाने वाला जीव कलुषित काम करने में ही अपना कल्याण समझता है, मगर उच्चगति में जाने वाला जीव उज्ज्वल कर्म धर्मध्यान करता है।

अफसोस ! कितनी निर्दयता है ! कैसी क्रूरता है ! वे घोर मूक प्राणी तड़प-तड़पकर मर जाते और उनके दुध मुँहे बच्चे भी माता के शोक में प्राण दे देते हैं। मगर निर्दय, क्रूर मनुष्य को दया नहीं आती है।

कई लोग गरीब मनुष्यों का शिकार करते हैं। वे गरीबों की लाचारी का अत्यन्त अनुचित लाभ उठाते हैं। गरीब आदमी का जब कोई काम अटकता है तो वह पैसे वाले से कुछ पैसा उधार ले लेता है। कुछ दिन बाद ब्याज पर ब्याज चढ़ाकर वह पैसे वाला कई गुनी रकम बना लेता है और कुर्की ले आता है और गरीब का खाने-पीने का सामान, बरतन, यहां तक कि कपड़ेलत्ते तक कुड़क करवा लेता है।

यह व्यवहार शिकार से क्या कम है जिस घर, सामान आदि नीलाम हो जाता है, वह निराधार हो जाता है, उसके बाल-बच्चे भूखे मरते हैं, और वह सदा के लिए हैरान-परेशान हो जाते हैं। किन्तु उस निर्दयी को दया नहीं आती। याद रक्खो जो दूसरे को आश्रयहीन, गृहविहीन और आजीविकाहीन करेगा, उसे स्वयं ऐसा ही बनना पड़ेगा।

राजा श्रेणिक, महावीर भगवान् के सम्पर्क में आने से पूर्व शिकार किया करता था। वह एकबार जंगल में शिकार खेलने गया। एक गर्भवती हिरनी को लक्ष्य करके उसने तीर चलाया। हिरनी विंध गई। उसका पेट का बच्चा निकलकर अलग जा पड़ा। राजा उस तड़पते हुए बच्चे को देखकर अत्यन्त खुश हुआ। उसने उस समय बहुत चिकने कर्मों का बंध किया।

भाइयों ! इस प्रकार की नृशंसता के विषय में क्या कहा जाय ? मनुष्य कितना पापी बन सकता है, उसका कितना अधः-पतन हो सकता है, यह सोचकर ही समझदार मनुष्यों की असीम पीड़ा होती है, किन्तु जिनकी अन्तरात्मा ऐसे जघन्य पापों का आचरण करते २ अत्यन्त कलुषित हो गई है, उन्हें अपने कुकृत्यों के लिए तनिक भी खेद नहीं होता, वे अज्ञानान्ध बन जाते हैं। उन्हें विचार नहीं आता कि निरपराध जीवों का वध निष्फल नहीं होगा। इसका कुपरिणाम उन्हें भोगना पड़ेगा और उस समय उनकी बड़ी भयानक दुर्गति होगी।

श्रेणिक राजा के किसी पूर्व पुण्य का उदय आया और वह भगवान् महावीर की संगति में जा पहुँचा। भगवान् के उपदेश से उसका जीवन बिलकुल पलट गया वह पक्का श्रावक बन गया।

एकबार श्रेणिक ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन् ! मेरा भविष्य क्या होगा ? मृत्यु के पश्चात् किस गति में जाऊँगा।

भगवान् महावीर परमवीतराग लोकोत्तर पुरुष थे। राजा-रंक सभी उनकी दृष्टि में समान थे। अतएव उन्होंने स्पष्ट कह दिया—राजन् तुम मृत्यु के पश्चात् प्रथम नरक में नारक के रूप में जन्म लोगे। तुमने हिरनी की हत्या करके हर्ष का अनुभव किया था।

राजा श्रेणिक ने बहुत चाहा कि किसी प्रकार वह नरक में जाने से बच जाय, परन्तु उसकी अभिलाषा पूरी नहीं हो सकी।

कर्म किसी का लिहाज़ नहीं करते कोई राजा हो, महाराजा हो, चक्रवर्त्ती हो, सेठ हो, साहूकार हो, ऊँचे से ऊँचे पद पर क्यों न प्रतिष्ठित हो, मगर अपने किये कर्मों का फल प्रत्येक को भोगना पड़ता है—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

कर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। अतएव जो पाप का फल नहीं भोगना चाहते, उन्हें पाप का आचरण करने से बचना चाहिए। यह नहीं हो सकता कि आप हँस-हँसकर पाप का आचरण करें, मगर उसका फल न भुगतना पड़े।

मनु ऋषि ने आठ प्रकार के हिंसक बतलाए हैं। उनमें हिंसक मनुष्यो को सहायता करने के उद्देश्य से रुपया उधार देने वाला भी गिना गया है। ऋण पाकर हिंसक और अधिक हिंसा करता है। अतएव हिंसा के त्यागी का कर्त्तव्य है कि वह हिंसक को सहायता न दे, जिससे वह अपने हिंसक व्यापार को बढ़ा सके।

भाइयो! हिंसा से बढ़ कर कोई पाप नहीं है और अहिंसा से उत्तम कोई धर्म नहीं है। अहिंसाधर्म इतना महान् है कि उसमें सभी धर्मों में समावेश हो जाता है। कहा भी है—

अहिंसा परमं दान-महिंसा परमो दमः ।
अहिंसा परमो यज्ञस्तथाऽहिंसा परं पदम् ॥

अहिंसा परमं ध्यानमहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमं ज्ञान-महिंसा परमं पदम् ॥

अहिंसा उत्तम दान है, अहिंसा उत्तम दम है अहिंसा उत्तम यज्ञ है और अहिंसा परम पद प्रदान करने वाली है।

अहिंसा परम ध्यान है, अहिंसा परम तप है, अहिंसा परम ज्ञान है और अहिंसा से परम पद की प्राप्ति होती है।

भाइयो ! जिसकी आत्मा अहिंसा से वासित हो जाती है, दया और करुणा से परिपूर्ण बन जाती है, जिसके हृदय रूपी सरोवर में अनुकम्पा की लहरें उठती रहती हैं और जो प्राणी मात्र को अपने ही समान समझता है, वही वास्तव में धर्मात्मा है ! उसका ही जीवन धन्य है। सफल है। वह अपने भविष्य को मंगलमय बनाता है। दूसरों को दुःख पहुचाना अपने लिए दुःख के बीज बोता है और दूसरों को सुखी बनाना अपने सुख की सामग्री संचित करना है।

जिसने हिंसा का त्याग नहीं किया, समझ लो कि उसने किसी भी पाप का त्याग नहीं किया; क्योंकि हिंसा का पेट इतना बड़ा है कि उसमें सभी पापों का समावेश हो जाता है।

भाइयो ! यदि चाहते हो कि आगामी जीवन सुख-शान्ति में व्यतीत हो तो हिंसा का त्याग करो; किसी भी रूप में दूसरे प्राणी को मत सताओ। जीवरक्षा में दत्तचित्त होओ। सेवा करो, परोपकार करो, यथाशक्ति दान दो, चित्त में शुभ भावनाएँ रक्खो। ऐसा करने से ही सुख की प्राप्ति होगी। एक क्षण के लिए भी यह मत भूलो कि हिंसा आदि पापों का सेवन करने वाले यहां

कुछ दिनों तक भले मौज मान लें मगर उन्हें भविष्य में दीर्घ काल तक नरक की दुस्सह यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी। जिन जीवों को सताओगे वे सब अपना-अपना बदला लेंगे। उस समय बड़ी कठिनाई में पड़ जाओगे।

चार प्रकार के पुरुषों का विवरण आपको सुनाया गया है। अतीत काल चला गया है, उसे सुधारना या बिगाड़ना आपके हाथ में नहीं रहा। वर्त्तमान तो एक ही क्षण का है और भविष्य अनन्त है। इसे सुधारने का प्रयत्न करो। ऐसा करो कि भविष्य में आपका महान् अभ्युदय हो। आपको सुख की प्राप्ति हो और अनादि काल से भवभ्रमण के दुःख भोगने वाली आपकी आत्मा को शान्ति प्राप्त हो। आनन्द ही आनन्द।

ब्यावर }
६-८-४१ }



मोह और मदिरा



स्तुतिः—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्राह्मणमीश्वरमनन्तमनंगकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम् ,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! कहां तक आपकी स्तुति की जाय ? आपके गुणों हे प्रभो ! कहां तक गान किया जाय ?

प्रभु अव्यय हैं, अर्थात् अविनाशी हैं। यद्यपि प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रहते हैं अर्थात् जितने भी सत् पदार्थ हैं, उन सब को पूर्व पर्याय का विनाश होता रहता

है, उत्तर पर्याय की उत्पत्ति होती रहती है और द्रव्य रूप से ध्रुव अवस्था रहती है, तथापि भगवान् को द्रव्य की प्रधानता से तथा सिद्धपर्याय की शाश्वतता की प्रधानता से अव्यय कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि भगवान् ने जो अवस्था प्राप्त की है वह फिर कभी नष्ट होने वाली नहीं है।

पर्याय दो प्रकार की हैं—व्यजनपर्याय और अर्थपर्याय। जो पर्याय व्यक्त होती हैं, छद्मस्थ भी जिसे जान सकते हैं, जिसका अस्तित्व तीनों कालों में रहता है; वह व्यजनपर्याय कहलाती है, जैसे जीव की मनुष्यपर्याय और पुद्गल की पुस्तक पर्याय। किन्तु जो पर्याय अत्यन्त सूक्ष्म होती है अर्थात् जिसकी स्थिति सिर्फ वर्त्तमान काल के एक समय तक ही रहती है, वह अर्थपर्याय कहलाती है। भगवान् की सिद्ध पर्याय व्यंजनपर्याय है और वह सादि अनन्त पर्याय है। एक बार उत्पन्न होकर वह कभी नष्ट नहीं होती, अतएव उसकी प्रधानता से भगवान् अव्यय हैं।

प्रभु का दूसरा विशेषण 'विभु' है। 'विभु' का अर्थ होता है व्यापक। कई लोग परमात्मा (ईश्वर) को शरीर से व्यापक मानते हैं। मगर ऐसी मान्यता किसी भी प्रकार तर्कसंगत नहीं है। ईश्वर का शरीर सारे लोक में व्याप्त होगा तो अन्य स्थूल पदार्थों को जगह नहीं रह जाएगी। इसके अतिरिक्त नरक आदि दुःखमय स्थानों में तथा अशुचि पदार्थों में भी उसका रहना मानना पड़ेगा, जो ईश्वर की शान के खिलाफ है। अतः परमात्मा शरीर से व्यापक है। भगवान् का केवलज्ञान तीन लोक के समस्त पदार्थों को जानता है इस अपेक्षा से वे विभु अर्थात व्यापक हैं।

तीसरा विशेषण अचिन्त्य' है। भगवान् का स्वरूप इतना

गंभीर है कि वह हमारे चिन्तन में नहीं आ सकता। चिन्तन बुद्धि द्वारा किया जाता है। छद्मस्थ की बुद्धि परिमित है और वह परिमित वस्तु का ही चिन्तन कर सकती है। परन्तु भगवान् के आत्मिक गुण अनन्त हैं और उनमें से प्रत्येक गुण की मात्रा भी अनन्त है। एक-एक गुण की अनन्त पर्याय हैं। ऐसी स्थिति में भगवान् का स्वरूप चिन्तन का विषय नहीं हो सकता।

चौथा विशेषण 'असंख्य' है। यद्यपि भगवान् द्रव्य रूप से एक इकाई हैं तथापि प्रदेशों की अपेक्षा असंख्यात है, क्योंकि एक-एक आत्मा के प्रदेश लोकाकाश के बराबर असंख्य हैं।

पांचवां विशेषण 'आद्य' है। 'आद्य' शब्द के दो अर्थ हैं– श्रेष्ठ और प्रथम। यह दोनों अर्थ भगवान् ऋषभदेव में घटित होते हैं। भगवान् जगत् के समस्त जीवों में श्रेष्ठ होने के कारण 'आद्य' हैं। इसके अतिरिक्त वर्त्तमान काल में वह प्रथम तीर्थंकर हुए, इस कारण भी आद्य हैं। भगवान् के द्वारा ही कर्मयुग सम्बन्धी व्यवस्थाओं की आदि हुई। इस कारण भी उन्हें 'आद्य' कहना उचित है।

छठा विशेषण 'ब्रह्मा' है। भगवान् पूर्वोक्त प्रकार से कर्मभूमि की आदि में समस्त लौकिक व्यवस्थाओं के जनक होने से ब्रह्मा है। कुछ लोगों का खयाल है कि ब्रह्मा वह कहलाता है जो सृष्टि को नये सिरे से उत्पन्न करता है। परन्तु यह सृष्टि अपने मौलिक रूप में अनादिनिधन है। न कभी उत्पन्न होती है, न कभी नष्ट होती है। अतएव इसके निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् ही असली ब्रह्मा हैं जो अकर्मभूमि का युग समाप्त

होने पर और कर्मभूमियुग का आरम्भ होने पर सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था के संस्थापक हैं।

भगवान् 'अनन्त' हैं, क्योंकि उनके गुण अनन्त हैं। इसी प्रकार भगवान् कामविजेता होने के कारण 'अनंगकेतु' भी हैं।

भगवान् 'योगीश्वर' है अर्थात् समस्त योगियों के नाथ हैं। योग का अर्थ है—अपनी चित्त की चपलता का निरोध करना और उसे एकनिष्ठ बनाना। संसार में योग की साधना करने वाले अनेक हैं, परन्तु वे योग की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँच पाते। भगवान् ने शुक्लध्यान के बल से मन के व्यापार को पूर्णरूपेण निरुद्ध किया। अतएव उन्हें योगीश्वर कहना उचित है।

साधारणतया योग के आठ अंग हैं, यथा—

अष्टा वंगानि योगस्य, यान्युक्तान्यार्यसूरिभिः।
चित्तप्रसत्तिमार्गेण, बीजं स्युस्तानि मुक्तये॥

अर्थात् पूर्ववर्त्ती आर्य आचार्यों ने चित्त की प्रसन्नता के लिए मुक्ति के कारणभूत आठ कहे हैं। वे आठ अंग इस प्रकार हैं—(१) यम (२) नियम (३) आसन (४) प्राणायाम (५) प्रत्याहार (६) धारणा (७) ध्यान और (८) समाधि। इन अंगों के अभ्यास से चित्तवृत्ति के निरोध में सहायता मिलती है। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है:—

(१) यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पांच मूलव्रत यम हैं।

(२) नियम—यमों का सम्यक् प्रकार से पालन हो; इस उद्देश्य से उनके पोषक विधि-विधान अनेक हैं। वे सब नियम कहलाते हैं। शौच, संतोष, स्वाध्याय, तपश्चरण आदि की नियमों में गणना की गई है।

(३) आसन—योग के विभिन्न आसन हैं। परन्तु योगी को अमुक आसन का ही प्रयोग करना चाहिए और अमुक का नहीं, ऐसा कोई ऐकान्तिक नियम नहीं हो सकता। आसन के सम्बन्ध में कहा गया है—

येन येन सुखासीना विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयं स्यान्मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥

अर्थात्—जिस-जिस आसन से मन निश्चल होता हो, वही आसन मुनियों को ग्रहण करना चाहिए। तथापि पद्मासन, अर्धपद्मासन, वज्रासन, वीरासन तथा कायोत्सर्गासन आदि विशेष प्रशस्त हैं।

(४) प्राणायाम—श्वास अर्थात् नाक से बाहर निकलने वाले वायु को और निश्वास अर्थात् नाक के अन्दर प्रवेश करने वाले वायु को रोकना प्राणायाम कहलाता है। इसमें रेचक, पूरक और कुम्भक किये जाते हैं। रेचक प्राणायाम से उदर व्याधि का और कफ का क्षय होता है तथा पूरक प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है और व्याधि का उपशमन होता है, कुम्भक से हृदय-कमल का विकास होता है, अन्तर्ग्रंथि का भेदन होता है, बल की वृद्धि होती है।

(५) प्रत्याहार— शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श, इन पांचों विषयों से इन्द्रियों को और मन को खींचकर, मन को शान्त निश्चल करना प्रत्याहार है।

(६) धारणा — नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भ्रकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान या मस्तक में से किसी भी एक स्थान पर लम्बे समय तक चित्त को टिकाना धारणा है।

(७) ध्यान—ध्यान करने का अधिकारी वह साधक होता है जो प्राणों का खतरा होने पर भी चारित्र से च्युत न हो, जो प्राणी मात्र को आत्मवत् समझता हो, जो बराबर समिति-गुप्ति का पालन करता हो, जो सर्दी गर्मी से घबरा न जाता हो, जो राग द्वेष का विजेता हो, कषायहीन हो, भोगों से सर्वथा विरक्त हो चुका हो, निस्पृह हो, समभावी हो, सांसारिक सुखों से विमुख और जिसके हृदय में करुणा का स्रोत प्रवाहित होता हो।

(८) समाधि—समस्त कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने वाली स्थिति को पूर्ण समाधि कहते हैं, क्योंकि इस अवस्था में आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पूरी तरह स्थिर हो जाता है।

भगवान् ने आठों कर्मों का क्षय करके परिपूर्ण आत्मलीनता प्राप्त की है, अतएव वे योगियों के स्वामी हैं। उन्होंने योग के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से जाना है। वे शुद्ध ज्ञानस्वरूप-चेतनमय हैं, क्योंकि सब प्रकार की आत्मिक मलीनता को नष्ट कर चुके हैं।

भगवान् के इन गुणों का कथन और स्तवन साधारण जन ही नहीं, सन्त पुरुष भी करते हैं। इस प्रकार के अनेकानेक

सद्गुणों से विभूषित भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम नमस्कार हो।

चौवीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी को फर्माया—कर जुमे चार प्रकार के हैं—कर जुमा, तेडगा, दावड़दुमा और कलुका।

चार-चार नारकियों का समूह करके छांटें और अन्त में यदि चार का समूह बचे तो वह कर जुमा कहलाएगा। दो बचे तो दावड़दुमा, तीन बचे तो तेडगा और एक अवशेष रहे तो कलुका कहलाएगा। इस प्रकार नारक जीवों की कमी-वेशी होती रहती है।

भाइयो! जीव अनन्त हैं, परन्तु इन अनन्त जीवों की अपेक्षा भी केवलज्ञानी का ज्ञान अनन्त है। केवलज्ञानी से कोई बात छिपी नहीं है। वे भीतर की, बाहर की, सूक्ष्म, स्थूल, रूपी, अरूपी, अतीतकालीन, वर्त्तमानकालीन, भविष्यत्कालीन, द्रव्य, गुण, पर्याय आदि-आदि जो कुछ भी है, उस सब को प्रत्यक्ष जानते-देखते हैं, जैसे हम अपनी हथेली पर रक्खी हुई वस्तु को जानते हैं। जो वस्तु मर्यादित है उसे मर्यादित जानते हैं और जो अमर्यादित है उसे अमर्यादित जानते हैं।

हमारी आत्मा में भी इतना ही ज्ञान विद्यमान है, मगर वह कर्मों के आवरण के कारण आच्छादित हो रहा है। कर्म सभी संसारी जीवों के साथ लगे हुए हैं। उनके दो भेद हैं—घनघाति और अघाति। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म घनघाति हैं, क्योंकि वे आत्मा के गुणों का विघात करते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म अघाति हैं,

क्योंकि ये असली गुणों का घात नहीं करते हैं। इनकी विद्यमानता में भी केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो जाती है।

मोहनीय कर्म इन सब कर्मों का राजा है, सबसे अधिक बलवान् है। इसकी बदौलत ही अन्य सब कर्मों का बन्धन है। इसका नाश होने पर सभी कर्म ढीले पड़ जाते हैं और शीघ्र ही समूल नष्ट हो जाते हैं। इस मोह-राजा को मारने से काम क्रोधादि शत्रुओं पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। मगर इसको जीतना बहुत कठिन है।

एक राजा को चन्द्रहास मदिरा पीने का बड़ा शौक था। वह उसे पीकर छह महीने तक पागल बना रहता था। एक दिन मदिरापान करके वह घोड़े पर सवार होकर सैर करने चला। जब नशे का चढ़ाव हुआ तो उसे यह भी भान न रहा कि मैं कौन हूँ और किधर जा रहा हूँ। पागल की-सी स्थिति में था। झाड़ झंखाड़ों में अपने घोड़े को दौड़ाता हुआ वह एक ऐसे मैदान में जा पहुँचा जहां कंजरों के डेरे थे।

उधर राजकर्मचारियों ने राजा को लम्बा समय व्यतीत हो जाने पर भी वापिस आया न देख, चिन्तित होकर सब जगह तलाश की, मगर कहीं पता नहीं चला।

कंजरों ने उत्तम वस्त्राभूषणों से सुसज्जित और बढ़िया घोड़े पर सवार व्यक्ति को देखा तो वे उधर ही दौड़ पड़े और राजा को घेर कर पूछने लगे-आप कौन हैं और किधर जा रहे हैं?

राजा ने कहा-हो हो!

यह अनोखा उत्तर सुनकर कंजरों ने विचार किया-यह व्यक्ति पागल है। इसे अपने कब्जे में करना चाहिए।

उन सबने मिलकर लाठियों से घोड़े को मार गिराया और राजा के वस्त्राभूषण छीनकर फटे वस्त्र पहना दिये। पकड़ कर अपने डेरे में ले गये।

राजा नशे की हालत में कभी तो कंजरनियों के साथ नाचता और कभी गाता था। वह उनमें ऐसा हिल मिल गया, मानों जन्म से उन्हीं का साथी हो। उन्हीं के साथ खाने-पीने लगा और उन्हीं जैसे कार्य करने लगा। उसकी दाढ़ी-मूंछें काफी लम्बी बढ़ चुकी थीं; मगर उसे इस बात की तनिक भी चिन्ता नहीं थी।

कंजरों ने एक नवयुवती के साथ राजा की शादी भी करदी, ताकि वह भाग न सके। राजा आनन्द पूर्वक वहां रहने लगा और उस हालत में ही खूब मौज मानने लगा।

राजा हमेशा कंजरों के मवेशी चराने ले जाता था और कभी रात कभी दो दिन से और कभी जल्दी भी आ जाता था, कंजर उस पर पूरी तरह विश्वास करने लगे थे।

इस प्रकार रहते २ राजा को तीन चार मास हो गये। ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता जा रहा था, त्यों-त्यों मदिरा का प्रभाव कम होता जाता था और वह सावचेत होता जा रहा था। धीरे-धीरे छह महीने बीत गये और अब वह पूरी तरह होश में आ गया। होश में आने पर राजा को अपनी हालत का भान हुआ और वह पश्चाताप करने लगा। सोचने लगा—मैंने कितना पागलपन किया। कैसी दुर्बुद्धि मुझे सूझी! मैं कौन हूं और कहां किस स्थिति में आ पड़ा हूं।

मगर आखिरकार वह राजा था और समझदार था।

उसने सोचा-अगर इन कंजरों को पता चल गया तो ये मुझे मार डालेंगे। यह सोचकर उसने न तो किसी से अपनी असली स्थिति के विषय में कोई बात कही और न यही प्रकट होने दिया कि वह सावचेत हो गया है। वह पहले की तरह ही व्यवहार करता रहा, जिससे कंजरों को सन्देह न हो।

एक दिन राजा कंजरों के जानवरों को चराने ले गया तो जानवरों को छोड़कर चल दिया। मार्ग में जो मिला उससे अपने नगर का रास्ता पूछता २ वह चलता ही रहा।

लगातार चलता २ राजा अपने महल के द्वार पर आ गया, परन्तु उसकी हालत इतनी बदली हुई थी कि उसके द्वाररक्षक पहचान न सके। दाढ़ी मूंछ बढ़ी हुई, कपड़े फटे पुराने, शरीर मैला-कुचैला, चेहरा बदला हुआ! कोई पहचानता भी तो कैसे? इस कारण जब सिपाहियों ने उसे भीतर प्रवेश करने न दिया तो वह बोला—भाइयों मैं ही राजा हूं। मैं तुम्हारा स्वामी हूँ। इस वेष-भुषा को देखकर तुम भ्रम में न पड़ो। शंका मत करो।

आखिर पहरेदारों ने बोली से राजा को पहचाना और भीतर जाने दिया। महल में पहुँचकर उसने सर्व प्रथम हजामत बनवाई, दाढ़ी-मूछ सफा करवाई, स्नान किया और राजा के योग्य वस्त्राभूषण धारण किये। तब सिंहासन पर आसीन हुआ।

राजा के अचानक गायब हो जाने से न केवल राजमहल में ही, बल्कि सारे नगर में खिन्नता और उदासी छा गई थी। अतएव उसके आते ही सर्वत्र हर्ष मनाया गया। राजमहल में जैसे सोने का सूर्य उगा। प्रजा को भी अत्यन्त प्रसन्नता हुई।

नगर के प्रतिष्ठित जन भेंट ले कर राजा की सेवा में उपस्थित हुए। कुशल-क्षेम पूछी और प्रसन्नता प्रकट की।

इस बार राजा को शराब पीने का पूरा फल मिल गया था। मदिरापान से मनुष्य क्या से क्या बन जाता है, किस प्रकार संकट का पात्र बन जाता है; यह बात भलीभांति उसकी समझ में आ चुकी थी। अतएव उसने अपने आपको खूब ही धिक्कारा और सदा के लिए मदिरापान का त्याग कर दिया।

मन ही मन राजा ने कहा – हे मदिरे! तू ने मुझे बर्बाद कर दिया। राजा की स्थिति से गिरा कर कंजर बना दिया। तेरे सेवन से मैं राज्य से वंचित हो गया था, कुटुम्ब परिवार से बिछुड़ गया था, घर-द्वार से पृथक् हो गया था इंसानियत भी मुझे त्याग चुकी थी; यहां तक कि प्राणों पर भी संकट आ पड़ा था। तेरे सेवन से मनुष्य सभी प्रकार से गिर जाता है। गनीमत हुई कि मैं सावधान हो गया और तेरे पंजे से छुटकारा पा सका। हे मदिरे! आज मैं तुझे हाथ जोड़ता हूँ जब तक इस शरीर में प्राण रहेंगे, मैं तेरा स्पर्श भी नहीं करूँगा।'

वास्तव में मदिरापान की आदत मनुष्य के लिए सब से बड़ा अभिशाप है। शराबी अपने जीवन को पूरी तरह बर्बाद कर लेता है। उसकी समस्त शक्तियां सुप्त हो जाती हैं। वह अपने सारे परिवार को घोर विपत्ति में डाल देता है। यदुकुल भारतवर्ष में कितना प्रख्यात था। जिस कुल में अरिष्टनेमि सरीखे लोकोत्तर पुरुष का जन्म हुआ और श्रीकृष्णजी जैसे प्रतापी वासुदेव हुए, उस कुल की प्रशंसा नहीं की जा सकती। मगर खेद है कि मदिरापान के दोष से वह प्रतापी कुल भी विनाश को प्राप्त हुआ

और उसके साथ ही साथ देवता द्वारा निर्मित, बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी, सुन्दर नगरी द्वारिका भी भस्म हो गई। इस प्रकार मदिरा अत्यन्त हानिकारक, सर्वस्व का नाश करने वाली वस्तु है। जब यादव जैसे असाधारण वीरों का और द्वारिका जैसे अद्वितीय नगरी का मदिरा से क्षण भर में विनाश हो सकता है तो औरों का तो कहना ही क्या है।

मदिरापान स्वयं एक बड़ा पाप है, फिर इस पाप के साथ अन्य अनेक पाप स्वयं आ जाते हैं। बल्कि यह कहना चाहिए कि संसार में जितने भी पाप हैं, मदिरापान से वह सभी आ जाते हैं। कहा है—

मद्यपाने कृते क्रोधो, मानो लोभश्च जायते।
मोहश्च मत्सरश्चैव, दुष्टभाषणमेव च ॥
विवेकः संयमो ज्ञानं, सत्यं शौचं दया क्षमा।
मद्यात् प्रलीयते सर्वं, तृणानि वह्निकणादिव ॥

अर्थ—मदिरापान करने से क्रोध, मान और लोभ की उत्पत्ति होती है। मूढ़ता उत्पन्न होती है। मात्सर्य और दुष्ट भाषण होता है। शराबी को बोलने का भान नहीं रहता। वह जो जी में आता है. वही अंटसंट बक देता है। किसी को भी गाली दे देता है। माता को प्राण-प्यारी कहते और पत्नी को माता कहते उसे जरा भी विचार नहीं होता।

शराबी का विवेक नष्ट हो जाता है। वह अच्छाई और बुराई में कोई भेद नहीं कर पाता। अपने भविष्य का विचार नहीं

करता। यह भी नहीं सोचता कि मेरे इस प्रकार के दुराचार से मेरी सन्तान पर क्या असर होगा? मेरी देखादेखी वे भी इस विनाशकारिणी वस्तु का सेवन करने लगेंगे। मेरे साथ और मेरी बदौलत उनका भी सर्वनाश हो जाएगा।

शराबी अपने ऊपर संयम तो रख ही नहीं सकता। जब वह आप ही अपने वश में नहीं रहता और अपने आपको ही भूल जाता है तो अपनी इन्द्रियों और मन पर किस प्रकार संयम रख सकता है? शराब असंयम को बढ़ाती है। जहां मदिरापान प्रारम्भ हुआ, वहां सभी प्रकार के असंयम का राज्य हो जाता है।

शराबी को जो ज्ञान होता है, वह भी नष्ट हो जाता है। वह नवीन ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। उसकी गांठ की अक्ल भी खत्म हो जाती है।

शराबी सत्यवादी कभी हो नहीं सकता। उसकी वाणी में असत्य का वास होता है। झूठ उसका सहारा है। वह पद-पद पर झूठ बोलता है। जिस झूठ पर कोई विश्वास नहीं कर सकता, उसे भी वह धृष्टतापूर्वक बोलने में संकोच नहीं करता।

शुचिता, दया और क्षमा आदि गुण उसमें से निकल जाते हैं। जो व्यक्ति अपने बाल-बच्चों को भूखा मार कर शराब की भट्ठी में सारा पैसा भस्म कर देता है, जो अपनी पत्नी के तन के आभूषण और कपड़े तक बेचकर शराब गटक जाता है और पैसा न मिलने पर पत्नी को मार-पीट कर उसके हाथ-पैर तोड़ देता है, उसमें दया एवं क्षमा की क्या संभावना की जा सकती है? मदिरा का उन्माद इतना भीषण होता है कि उसमें सभी

सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। शराबी की सारी जिंदगी बर्बाद हो जाती है। अगला जन्म भी बिगड़ जाता है।

जैसे आग की एक चिनगारी से बड़ा से बड़ा घास-फूस का ढेर भस्म हो जाता है, उसी प्रकार मदिरापान से तत्काल सब सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतएव ज्ञानी जनों का कथन है–

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानाद्–
भ्रान्तं चित्तं पापचर्यामुपैति।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढा–
स्तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥

अर्थात्—मद्यपान करने से चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न होती है। चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न होने से पापाचरण होने लगता है अर्थात् मन पाप में प्रवृत्ति करता है। पाप का आचरण करने से मूढ पुरुष दुर्गति प्राप्त करते हैं। अतएव अगर अपना इह-परलोक बिगाड़ने की इच्छा नहीं है और दुःखों से बचने की भावना है तो मद्य मत पीओ, मत पीओ।

भाईयों मद्यपान से होने वाली हानियों को सब लोग प्रत्यक्ष देख सकते हैं। प्रतिदिन अनेक शराबियों की दुर्दशा दिखाई देती है। कोई सड़क पर औंधा पड़ा है, कोई सीधा पड़ा है। जो सीधा पड़ा है उसके मुँह में कुत्ते मूत जाते हैं और बेभान शराबी उसे रोक नहीं सकता। कोई मल-मूत्र से भरी गटर में पड़े २ बड़-बड़ाते रहते हैं। मुँह से अत्यन्त अशिष्ट शब्दों का प्रयोग करते हैं, जिन्हें सुनकर सभ्य और शिष्ट पुरुषों

को लज्जा आती है। उस समय वह शराबी अत्यन्त तुच्छ, नीच, घृणास्पद, तिरस्कार का पात्र और अवहेलना का भाजन बन जाता है।

कोई व्यक्ति कितना ही सन्माननीय हो, प्रतिष्ठापात्र हो, महान् गिना जाता हो, परन्तु जब लोगों को पता चलता है कि यह शराबी है, तो उसकी सारी प्रतिष्ठा और महत्ता पल भर में नष्ट हो जाती है। घृणित पुरुष भी उसे घृणित समझने लगते हैं। अतएव शराब का सेवन करना किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

तो जब उस राजा को मदिरापान से होने वाले अनर्थों का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ तो उसकी आंखें खुल गई। वह भाग्यवान् था कि मदिरापान त्यागने में समर्थ हो सका। अन्यथा एकबार जो शराब का शिकार हो जाता है, वह प्रायः छूट नहीं पाता। शराब उसके जीवन का अन्त करके ही दम लेती है। उसमें शराब को त्याग देने की शक्ति ही नहीं रह जाती। वह पूरी तरह उसका गुलाम बन जाता है।

राजा मदिरापान के दुर्व्यसन से मुक्त होकर न्याय नीति के साथ अपने राज्य का संचालन करने लगा।

एकबार कंजरों का वही काफ़ला, जिसने राजा को लूट लिया था और जिसके साथ वह रह चुका था, उसी नगर में जा पहुँचा और संयोगवश राजा के महल की ओर से निकला। राजा उस समय महल की खिड़की में बैठा था। उस पर एक लड़की की सहसा नजर पड़ गई। उसने राजा को पहचान लिया और कहा—'अरे देखो, जीजा तो वह ऊपर बैठे हैं।'

अपनी बहिन की बात सुनकर राजा की कंजरी-पत्नी ने भी कहा—हां-हां, वही तो हैं। यही तो मेरे पति हैं जो धोखा देकर भाग आये हैं।

कंजर लोग भिन्न २ सम्बन्धों से राजा को सम्बोधन करने लगे। राजा चाहता तो खिड़की बन्द कर सकता था या वहां से उठकर गायब हो सकता था, पर उसने सोचा—ऐसा करने से यह लोग होहल्ला मचाएँगे और मेरा भण्डाफोड़ हो जाएगा। अतएव उसने उसी समय सिपाहियों को आदेश दिया—इन सब कंजरों को शहर से बाहर निकाल दो। ऐसी व्यवस्था करो कि ये फिर नगर में प्रवेश न कर सकें।

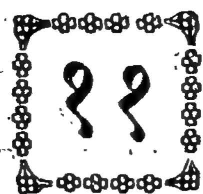
सिपाहियों ने राजा की आज्ञा होते ही कंजरों को बाहर निकाल दिया। राजा की आबरु बची।

भाइयों! गहरा विचार करो तो पता चलेगा कि यह सारा संसार एक प्रकार से कंजरखाना है। इस कंजरखाने में संसारी जीव प्रमाद की मदिरा पीकर पागल हो रहा है और विविध प्रकार के दुर्गुण रूपी कंजरों के चक्कर में पड़ा हुआ है। जब तक मोह रुपी मदिरा का नशा नहीं उतरता और मोक्ष का मार्ग नहीं मिलता तब तक इन कंजरों से छुटकारा पाना सम्भव नहीं है। जिस पुण्यवान् पुरुष का मोह-मदिरा का नशा उतर जाता है और इस कारण जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जाती है, वह तपश्चरण रूपी सिपाहियों से दुर्गुण रूपी कजरों को बाहर निकाल देता है। एकबार मोक्ष प्राप्त हो जाने पर फिर कंजरों की कंजराई नहीं चलती।

किन्तु मोहनीय कर्म बड़ा जबर्दस्त है। जब तक इसका पूरा जोर रहता है, तब तक मनुष्य सच्चे मुक्तिमार्ग पर श्रद्धा भी नहीं कर पाता। जैसे पित्त ज्वर वाले को मीठा दूध भी कटुक लगता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय के उदय वाले जीव को समीचीन तत्त्व मिथ्या और मिथ्यातत्त्व समीचीन प्रतीत होता है। उसे धर्म नहीं रुचता। वह वीतराग भगवान् की वाणी पर प्रतीत नहीं करता। धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझता है। उसकी दृष्टि ऐसी विपरीत हो जाती है कि वह उन्मार्ग को ही सन्मार्ग समझकर उस पर चलता है। संक्षेप में, ऐसा जीव मोक्षमार्ग पर एक भी कदम नहीं रखता।

अनादि काल से जीव को भवभ्रमण करना पड़ रहा है, उसका प्रधान कारण मोह ही है। आत्मा में जो भी विकार उत्पन्न होते हैं, उनका कारण भी यही है। सब प्रकार की मलीनता का मूल जनक मोह ही है। अतएव मोक्षार्थियों को चाहिए कि वे सर्वप्रथम मोहजाल को तोड़ फैंके। मोह के नष्ट होते ही आत्मा का उत्थान शुरु हो जाता है और फिर आनन्द ही आनन्द होता है।

ब्यावर
७-८-६०



क्षमाशूर



स्तुतिः—

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुमांस-
मादित्यवर्णममलं तमसः परस्तात् ।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं,
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र ! पन्थाः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन् ! आपकी स्तुति कहां तक की जाय ? प्रभो ! कहां तक आपके गुणों गान किया जाय ?

भगवन् ! मुनिजन आपको परम पुरुष मानते हैं। आप सूर्य के समान तेजस्वी हैं। आप समस्त आन्तरिक मलीनता से रहित हैं। आपने ज्ञानावरण कर्म का समूल क्षय किया है,

अतएव अज्ञान-तिमिर से सर्वथा रहित, सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। आप–

चंदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहियं पयासयरा।

अर्थात चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल हैं और सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान हैं।

आपकी उपासना, सेवा, भक्ति एवं स्तुति करके मनुष्य मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर लेते हैं। मृत्यु किसी को नहीं छोड़ती, मगर आपके भक्त मृत्यु को भी मार डालते हैं। ऐसी असाधारण महिमा से मंडित भगवान् ऋषभदेव को सर्वप्रथम नमस्कार हो।

भाइयो! आपको भलीभांति विदित है कि इस संसार में मृत्यु की शक्ति असीम है। मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर न जाने कितने चमत्कार करता है। असंभव प्रतीत होने वाली बातें संभव हो गई हैं, यह मानवबुद्धि का ही चमत्कार है। किन्तु वह ऐसा कोई उपाय नहीं खोज सका कि दुनिया से मृत्यु उठ जाय और कोई भी मनुष्य मौत का शिकार न हो। सामूहिक रूप से मनुष्य के अमर होने की बात जाने दीजिए, कोई एक भी व्यक्ति अमर नहीं हो सका। बड़े से बड़े प्रतापी और शूरवीर पुरुष इस धरित्री पर आये, किन्तु सब को मृत्यु के मुख में समा जाना पड़ा। ऐसी स्थिति में अमर होने की अभिलाषा रखने पर भी कौन अमर हो सकता है?

मनुष्य मर्त्य कहलाता है, अतएव उसका मरण होना तो साधारण बात है, मगर 'अमर' कहलाने वाले देवता भी वास्तव में अमर नहीं हैं। उन्हें भी आयुकर्म के पूर्ण होने पर शरीर

त्यागना पड़ता है। स्वर्गीय भोगोपभोगों से वंचित होना पड़ता है और अमर्त्य से मर्त्य योनि में आना पड़ता है।

काल 'समदर्शी' कहलाता है। समदर्शी का अर्थ है-सब को सरीखा देखने वाला, अर्थात् सब के साथ समान व्यवहार करने वाला। वह राजा-रंक, कुलीन-अकुलीन, आदि सब के साथ एक-सा व्यवहार करता है।

कालस्य न प्रियः कश्चिद् , द्वेष्यश्चास्य न विद्यते।
आयुष्ये कर्मणि क्षीणे, प्रसह्य हरते जनम् ॥

अर्थात्—काल के लिए न कोई प्रिय है, न कोई अप्रिय है। जब तक आयुकर्म शेष रहता है, तब तक वह मस्तक पर मँडराता रहता है, और जब कर्म क्षीण हो जाता है तो ऐसा झपट्टा मारता है कि जीव बच नहीं सकता। वह एक ही झपट्टे में काल का शिकार हो जाता है। साधारण लोगों की बात छोड़ो। और देवराज इन्द्र एवं नरराज चक्रवर्त्तियों पर ध्यान दो। क्या वे मृत्यु से बच सके? इस मृत्यु ने आज तक अनन्त-अनन्त इन्द्रों को और अनन्त अनन्त चक्रवर्त्ती राजाओं को उसी प्रकार खत्म कर दिया, जिस प्रकार हवा का एक झौंका दीपक को खत्म कर देता है। काल के सामने उनकी एक न चली। उनका ऐश्वर्य उनकी रक्षा न कर सका। सहस्रों देवगण भी उन्हें बचाने में समर्थ न हो सके। जब ऐसी बात है तो साधारण मनुष्य किस प्रकार आशा कर सकता है कि वह मृत्यु का शिकार न होगा?

सो निश्चय समझो कि जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु अवश्यंभावी है। मगर जो भव्य जीव भगवान् ऋषभदेव की

शरण ग्रहण करेंगे, वे अवश्य ही कर्मों का क्षय करके अमर हो जाएँगे। कर्मों को मारने वाला मृत्यु को भी मार डालता है और सदा के लिए अमर हो जाता है।

श्रीठाणांगसूत्र में भगवान् ने मृत्यु पर विजय प्राप्त करने का पुनीत पथ प्रदर्शित किया है। उस पथ पर चल कर शूरवीर पुरुष ही मृत्यु को जीत सकते हैं। यहां कायरों का काम नहीं है। जो काम क्रोध आदि रिपुओं के सिर उठाते ही नतमस्तक हो जाते हैं, दृढ़तापूर्वक उनका मुकाबिला नहीं कर सकते और उनसे पराजित हो जाते हैं, ऐसे लोग उस मार्ग पर चलने में समर्थ नहीं हो सकते॥

कहा जा सकता है कि जब मृत्यु अनिवार्य है और प्रत्येक प्राणी को मरना ही पड़ता है, तो फिर उस पर विजय कैसे प्राप्त की जा सकती है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ग्रहण किये हुए शरीर को त्यागना तो अनिवार्य है, मगर यह अनिवार्य नहीं है कि त्याग करने के बाद शरीर ग्रहण करना ही पड़ेगा। जिन जीवों के कर्म शेष हैं, उन्हें नवीन शरीर ग्रहण करना ही होगा, परन्तु जो कर्मों का अन्त कर देते हैं, उन्हें नूतन शरीर ग्रहण नहीं करना पड़ता। वे शरीर त्याग कर सदा के लिए अमर हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जन्म के पश्चात् मरण होना अनिवार्य है किन्तु मरण के पश्चात् जन्म लेना अनिवार्य नहीं है।

भगवान् ने फर्माया है कि शूरवीर चार प्रकार के हैं—

(१) क्षमाशूर—जो क्षमा करने में शूरवीर हों।

(२) तपःशूर—जो बाह्य और आभ्यन्तर तपश्चर्या करने

से नहीं घबराते। शक्ति के अनुसार तपस्या करते हैं और वह भी केवल कर्मों की निर्जरा करने के लिए करते हैं, इहलोक और परलोक संबंधी सुख के लिए अथवा यश कीर्ति के लिए नहीं।

(३) दानशूर—दान देने में कंजूसी न करने वाले। दानी दुनियां में बहुत मिल सकते हैं, पर दानशूर कोई विरले होते हैं। दानशूर व्यक्ति जो दान देता है वह किसी पर ऐहसान करने के लिए नहीं देता। वह उलटा लेने वालों का अहसादमंद होता है, क्योंकि वे उसे दानधर्म का आचरण करने का अवसर प्रदान करते हैं और उपार्जन करने के लिए किये हुए अनेक प्रकार के पापों को हल्का करने का साधन जुटाते हैं। दानशूर व्यक्ति दान का अवसर मिलने पर उसी प्रकार प्रसन्न होता है जिस प्रकार कोई भलामानुस अपने चेहरे पर लगी हुई कालिख को धोकर प्रसन्न होता है।

(४) युद्धशूर—युद्ध करने में शूर। भौतिक शस्त्रास्त्रों से भी युद्ध होता है और हर हालत में युद्ध में डटा रहने वाला व्यक्ति शूरवीर भी गिना जाता है। जब प्राण संकट में आ पड़े हों और युद्धभूमि से भागकर प्राण बचाने की सुविधा हो, उस समय भी जो प्राणों की ममता त्याग कर युद्ध करता है और अपने देश की रक्षा के लिए एवं मातृ-भूमि की प्रतिष्ठा के लिए जो शत्रुओं का डटकर मुकाबिला करता है, वह लोक में प्रतिष्ठित माना जाता है। युग-युग तक लोग उसकी विरुदावली गाते हैं। महाराणा प्रताप, शिवाजी, रानी लक्ष्मीबाई, आदि का नाम इसी कारण प्रसिद्ध है कि उन्होंने देश की स्वाधीनता की रक्षा के लिए सब सुखों को तिलांजलि दे दी और घोर कष्टमय जीवन

अंगीकार किया। वे चाहते तो सुखमय जीवन व्यतीत कर सकते थे, परन्तु उन्होंने देश की प्रतिष्ठा को अपने सब सुखों से ऊँचा समझा।

महाराजा चेटक को मालूम था कि इन्द्र कोणिक राजा की सहायता कर रहा है, फिर भी अन्याय का प्रतीकार करने के लिए उन्होंने कोणिक के साथ संग्राम किया। वे न कोणिक से डरे और न इन्द्र से भयभीत हुए। युद्ध का क्या परिणाम होगा, इस बात का भी उन्होंने विचार नहीं किया। उनकी दृष्टि अपने कर्त्तव्य पर थी। कर्त्तव्य करना ही उन्हें अभीष्ट था, फिर उसका तात्कालिक फल कुछ भी क्यों न हो। ऐसे लोग जानते हैं कि कर्त्तव्य पालन का फल कदापि बुरा नहीं हो सकता। संभव है उस समय उसमें पूरी सफलता न मिले, मगर असफलता की सम्भावना करके कर्त्तव्य को प्रारम्भ ही न करना बड़ी भारी कायरता है।

इस प्रकार अन्याय का निवारण करने के लिए, अनीति और अत्याचार को दूर करने के लिए तथा संसार में न्याय-धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए किया जाने वाला युद्ध भी शूरवीरता का परिचायक है, मगर इस बाह्य युद्ध की अपेक्षा आन्तरिक युद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। वह आन्तरिक युद्ध क्या है?

प्रत्येक संसारी आत्मा के भीतर दो प्रकार की परस्पर विरोधी शक्तियां काम करती रहती हैं–शुद्ध शक्तियां और अशुद्ध शक्तियां। अहिंसा, दया, क्षमा, सहानुभूति, समता, ब्रह्मचर्य, विवेक आदि शुद्ध शक्तियां हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, काम, दंभ आदि अशुद्ध शक्तियां हैं। इन दोनों शक्तियों में निरन्तर संघर्ष होता रहता है। कभी अन्तरतर में शुद्ध भावनाओं की प्रबलता है और अशुद्ध भावनाएँ दब जाती हैं तथा कभी

अशुद्ध भावनाओं का ऐसा ज्वार आता है कि सारी शुद्ध भावनाएँ उसमें बह जाती हैं।

बाह्य युद्ध कभी कभी होता है, परन्तु आन्तरिक युद्ध सदैव होता रहता है। बाह्य युद्ध से मिलने वाली विजय क्षणिक होती है जब कि आन्तरिक युद्ध में अगर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाय तो वह शाश्वत होती है। उससे तीनों लोकों का साम्राज्य प्राप्त होता है। बाह्य युद्ध से कुछ शत्रु नष्ट हो सकते हैं परन्तु सैंकड़ों नये शत्रु बन जाते हैं, परन्तु आन्तरिक युद्ध से, जो अपने विकारों का अन्त करने के लिए लड़ा जाता है, समस्त शत्रुओं अर्थात् विकारों का अन्त हो जाता है और नवीन शत्रु कोई उत्पन्न नहीं होता। वास्तव में इस विजय से बढ़कर कोई दूसरी विजय नहीं हो सकती। इस विजय के बाद फिर कभी कोई युद्ध नहीं करना पड़ता और न विजय पाने की ही आवश्यकता रहती है। भगवान् ने फर्माया है—

अप्पाणमेव जुज्झाहि, किंते जुज्झेण वज्झओ।

अगर युद्ध करना है तो अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करो। बाहरी युद्ध से क्या प्रयोजन सिद्ध होने वाला है ?

तो इस प्रकार वीरतापूर्वक युद्ध करने वाले युद्धशूर कहलाते हैं।

क्षमाशूरों में सर्वप्रथम अरिहन्त भगवान् की गणना की जाती है। अर्हन्त के मुकाबिले की क्षमा किसी भी प्राणी में नहीं हो सकती। भगवान् महावीर स्वामी के जीवन प्रसंगों को स्मरण करोगे तो इस कथन की सचाई समझ में आ जाएगी। भगवान्

महावीर को दीक्षा लिये अधिक समय नहीं हुआ था कि जंगल में ध्यानमग्न भगवान् के पास एक गुवाला आया। उसने भगवान् से कहा–मैं थोड़ी देर के लिए गांव में हो आता हूं। तब तक मेरे बैलों को देखते रहना। कहीं इधर-उधर न चले जाएँ।

भगवान् ध्यान में लीन थे। उन्होंने हां·ना कुछ भी नहीं कहा। गुवाला बैल छोड़ कर चला गया। बैल अपनी आदत के अनुसार चरते-चरते कहीं निकल गये। महावीर स्वामी को क्या पड़ी थी कि वे उनकी ओर ध्यान देते?

थोड़ी देर बाद गुवाला आया। उसने पूछा–मेरे बैल कहां हैं? महावीर उस समय भी मौन रहे। गुवाले ने इधर-उधर देखा, किन्तु बैल नजर न आये। तब उसने सोचा–मालूम होता है कि इस बाबा ने ही कोई कारिस्तानी की है और बैलों को गायब कर दिया है।

यह सोच कर वह भगवान् पर गुस्सा दिखलाने लगा। मारने-पीटने को तैयार हुआ। उसी समय इन्द्र महाराज आ पहुँचे। उन्होंने कहा–प्रभो! आज्ञा हो तो गुवाले को समुचित दण्ड दूं और मैं सदा आपकी सेवा में रहूँ, भगवान् ने उत्तर दिया–नहीं, गुवाल को कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं है। मुझे सेवा की आवश्यकता भी नहीं है। तुम्हारी सद्भावना युक्त है, मगर मैं अपने ही बल पर साधना करना चाहता हूँ। किये कर्मों के फलभोग से बचने की मेरी इच्छा नहीं है। समभाव से भोग कर ही उन्हें खत्म करना होगा।

इसके बाद भगवान् पर अनेक संकट आये। संगम नामक एक मिथ्यादृष्टि देव ने लगातार छह महीनों तक भगवान् को भारी

कष्ट पहुँचाया, इतना कष्ट कि उसका वृत्तान्त पढ़-सुन कर ही दिल दहल जाता है। परन्तु उस पर भी भगवान् ने अखण्ड क्षमा की वर्षा की।

संगम छह महीने तक भगवान् को सताता रहा। उसने पहले भगवान् पर इतनी धूल उछाली कि भगवान् के कानों और नाक के छिद्र भर गये। श्वासोच्छ्वास बंद हो गया। मगर योग-शक्तिसम्पन्न भगवान् ने अत्यन्त शान्तभाव से उसे सहन किया। फिर उसने अतीव तीक्ष्ण मुख वाली कीड़ियों का निर्माण किया। वह कीड़ियां भगवान् के सारे शरीर में चिपट गई। थोड़ी ही देर में उन्होंने जगह-जगह छेद कर दिये। भगवान् का शरीर सुकोमल था ही, वह चलनी के समान हो गया। फिर भी उनका चित्त तनिक भी कलुषित नहीं हुआ। तत्पश्चात् संगम ने डांस बना कर भगवान् पर छोड़े। उनके दंश से शरीर से रक्त की धाराएँ प्रवाहित होने लगीं। तब भी भगवान् विचलित नहीं हुए और अपनी समाधि में लीन रहे। तत्पश्चात् सिंह, सर्प और हाथी वगैरह के रूप धारण करके उसने भगवान् को ध्यान से विचीलत करने का प्रयत्न किया। मगर देव अपने प्रयत्न में सफल न हुआ। उसे भगवान् के आगे परास्त होना पड़ा।

इस प्रकार प्रतिकूल उपसर्गों से जब संगम सफल न हो सका तो उसने अनुकूल उपसर्ग देना प्रारम्भ किया। तरह तरह के प्रलोभनों से विचलित करने का प्रयत्न किया। मगर भगवान् पर उसका भी कुछ असर न पड़ा।

इस प्रकार संगम ने छह महीने तक प्रयत्न किया कि किसी प्रकार महावीर को ध्यान, संयम एवं समाधि से डिगादूं

और उनके क्षमाभाव को खण्डित कर दूं परन्तु जब निराशा ही उसके पल्ले पड़ी तो वह दुखी होकर वापिस जाने लगा।

इतनी-इतनी घोर यातनाएँ सहन करते समय भी जिनको तनिक भी दुःख का अनुभव नहीं हुआ था, वही क्षमा मूर्ति भगवान् महावीर संगम के निराश, हताश एवं दुखी होकर जाते समय द्रवित हो उठे। करुणा से उनके नेत्र गीले हो गये। उन्होंने सोचा—बेचारा संगम छह महीने के लगातार प्रयत्न में असफल हो कर जा रहा है। इसने मेरे निमित्त से घोरातिघोर पापकर्मों का संचय किया है। मैं इसे सन्मार्ग पर न ला सका।

यह थी भगवान् अरिहन्त की उत्कृष्ट क्षमा भावना। यह तो बहुत से उदाहरणों में से एक उदाहरण है। चंड-कौशिक ने जब डंक मारा तब भी भगवान ने अद्भुत क्षमाभाव प्रदर्शित किया। ऐसा असाधारण, अपूर्व और लोकोत्तर क्षमाभाव अरिहन्तों में ही होता है। उन्होंने क्षमा के अनोखे उदाहरण उपस्थित किये हैं और हमारे लिए प्रशस्त पथ बना दिया है।

तीर्थंकर भगवान् ने धर्म के दस प्रधान लक्षण बतलाये हैं, यथा-

'उत्तमक्षमामार्दवार्जवसत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचिन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्माः।'

—तत्त्वार्थसूत्र

अर्थात्—उत्तम (१) क्षमा (२) मार्दव-नम्रता (३) आर्जव-निष्कपटता (४) सत्य (५) शौच—लोभ का न होना (६) संयम-इन्द्रिय और मन को नियंत्रण में रखना तथा किसी भी प्राणी के लिए कष्टजनक प्रवृत्ति न करना (७) तपस्या (८) त्याग (९) आकिंचिन्य—पूर्ण अपरिग्रह और (१०) ब्रह्मचर्य।

यह सभी धर्म उत्तम हैं, कल्याणकारी हैं, आत्मा की उन्नति के लिए अनिवार्य हैं। मगर ध्यान देने की बात यह है कि इनमें सर्वप्रथम गणना क्षमा की ही की गई है। इसका कारण यही है कि क्षमाभाव का विकास होने पर ही आगे के धर्मों का विकास हो सकता है। जीवन में क्षमाभाव से अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है। क्षमा शत्रु को जीतने का सबसे बड़ा शस्त्र है।

क्षमाशस्त्रं करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः, स्वयमेवोपशाम्यति ॥

अर्थात्—जिस शूरवीर के हाथ में क्षमा का अमोघ शस्त्र मौजूद है, उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकता है? पानी में पड़ी हुई आग स्वयं शान्त हो जाती है।

क्षमावान् पुरुष न स्वयं संतप्त होता है और न दूसरों को संताप पहुँचाता है। वह स्वयं प्रसन्न, शान्त और स्वस्थ रहता है और दूसरों को भी शान्ति प्रदान करता है।

भाइयो! क्षमा में अचिन्त्य शक्ति है। क्षमा रूपी मोहर तीर्थङ्करों द्वारा परीक्षित है। इसके विषय में जरा भी शंका करने की गुंजाइश नहीं है। क्षमा के बराबर दुनिया में दूसरी चीज नहीं है। शरीर का भूषण क्षमा ही है। शरीर पर किसी प्रकार का आभूषण न हो, किन्तु अंग-प्रत्यंग सुन्दर हो तो बिना आभूषणों के ही ऐसे शरीर वाला व्यक्ति सब को सुन्दर प्रतीत होता है। भगवान् महावीर के शरीर पर, दीक्षा लेने के पश्चात् कोई आभूषण नहीं थे। किन्तु वे असाधारण सुन्दर प्रतीत होते थे।

उनका शरीर कैसा देदीप्यमान था। देखते ही देखने वाला चकित रह जाता था।

रूप का भूषण गुण है। अगर कोई पुरुष रूपवान् है, मगर गुणवान् नहीं है तो उसका कोई मूल्य नहीं है। गुणों में सर्वप्रधान गुण ज्ञान है। ज्ञान के अभाव में हिताहित का बोध संभव नहीं है। मनुष्यजीवन को हर तरह से अच्छा बनाने के लिए ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है।

किसी नगर में एक सेठ रहता था। उसकी पत्नी उससे हमेशा कहा करती थी—आप हजार-हजार के मुनीम रखते हो, मगर सभी गैर लोगों को ही रखते हो। मेरे भाई को मुनीम नहीं बनाते।

सेठ उत्तर देता था—तुम्हारे भाई में हजार रुपया पाने वाले मुनीम के योग्य गुण हों भी।

सेठानी ने कहा—परीक्षा करने से पहले ही मेरे भाई को अयोग्य ठहराना, इस बात को सूचित करता है कि आप उसे नहीं चाहते। चाहते तो एकबार कोई काम बतला कर परीक्षा कर लेते।

सेठ ने कहा—अच्छी बात है; काम बताकर देख लूँगा।

कुछ दिन बाद सेठ ने अपने साले को बुलाया और कहा—अपनी भानजी के लिए सुयोग्य वर खोज लाओ। देखो, ध्यान रखना कि घराना अच्छा हो और वर सोलह साल का हो।

साले साहब नौकरों के साथ रवाना हुए और कुछ दूर जाकर विश्राम के लिए एक बगीचे में ठहरे। वहां पर सोचते

सोचते उसके दिमाग में एक बात आई। वह नौकरों को वहीं बिठला कर लौटा और सेठ के पास आया। बोला-बहिनोईजी एक आवश्यक बात पूछनी रह गई थी उसे पूछने के लिए वापिस लौटना पड़ा।

सेठ ने कहा-कहो, क्या पूछना रह गया है ?

वह बोला-अगर सोलह वर्ष का एक लड़का नहीं मिला तो आठ-आठ वर्ष के दो लड़कों के साथ सम्बन्ध तय कर लिया जाय ? बात तो एक ही है—सोलह वर्ष का एक या आठ-आठ वर्ष के दो। फिर भी आपसे आज्ञा ले लेना आवश्यक प्रतीत हुआ।

सेठ मन ही मन मुस्कराया और बोला—विवाह-शादी सम्बन्धी सलाह स्त्रियों से करनी पड़ती है। खास तौर से लड़की का सम्बन्ध तय करते समय उसकी माता से पूछना चाहिए। सो आप जाइए और अपनी बहिन से इस सम्बन्ध में पूछ लीजिए।

वह अपनी बहिन के पास पहुंचा। सेठानी ने उसकी बात सुन कर अपना माथा ठोंक लिया। कहा—मूर्ख कहीं के! इसी अक्लमन्दी के भरोसे बड़े-बड़े मुनीमों की जगह लेना चाहता है?

थोड़ी देर बाद सेठ भी वहां जा पहुँचा। उसने मज़ाक के स्वर में कहा—कहो, भाई को क्या सलाह दी ?

सेठानी शर्मिन्दा होकर चुप रह गई।

कुछ दिन बीत जाने पर सेठानी ने फिर वही खटराग आरम्भ किया—मेरे भाई को नौकरी दे दो।

सेठ ने कहा—एक बार परीक्षा कर चुकी हो। उसमें

तनिक भी बुद्धि नहीं है। क्या काम दूं? वह कभी भारी नुकसान कर बैठेगा।

सेठानी—एक बार और काम पर लगा देखो। सफल हो जाय तो ठीक, अन्यथा मैं दुबारा आग्रह नहीं करूँगी।

सेठ ने फिर अपने साले को बुलवाया और राख की एक पुड़िया देकर कहा—जाओ, राजाजी के ललाट पर यह राख लगा आओ।

साला राख की पुड़िया लेकर राजमहल की ओर चला। ज्यों ही महल में घुसने लगा, सिपाहियों ने पूछा—कहां जा रहे हो?

वह बोला—सरकार के माथे पर राख लगाने।

यह बात सुनते ही सिपाहियों ने दो-चार घूंसे लगाये और भगा दिया।

वह मन ही मन कुढ़ता हुआ घर आया और सेठ से सब हाल सुनाया।

सेठ ने सेठानी से कहा—देख ली अपने भाई की अक्ल। सेठानी तुनुक कर बोली—आपने काम ही ऐसा बतलाया था कि मेरे भाई की फजीहत हो। दो हजार पाने वाले मुनीम को भेजते तो क्या वह राख लगा कर आ जाता।

सेठ ने कहा—यह भी परीक्षा करके देख लो-वह राख लगा कर आता है या नहीं।

यह कहकर उसी समय उसने अपने मुनीम को बुलाया

और वह राख की पुड़िया देकर कहा—जाओ, राजा के मस्तक पर लगा आओ।

मुनीम ने पुड़िया लेकर एक बढ़िया बहुमुल्य डिबिया में रक्खी। उस पर इत्र छिड़का। फिर डिबिया को थाल में रखकर और आसपास में रत्न आदि सजाकर दस-पांच सेठों को साथ लेकर वह राजमहल की ओर चला। द्वार पर उसे किसी ने रोका-नहीं। राजा के समीप पहुँचकर उसने निवेदन किया—हमारे सेठ साहब तीर्थ-यात्रा के लिए गये थे और वहां से पवित्र भभूत लाये हैं। वह हाजिर है।

राजा ने कहा—मैं बहुत प्रसन्न हूँ। मेरे माथे पर लगा दीजिए।

मुनीम ने वह राख डिबिया में से निकाली और माथे पर लगा दी। राजा ने सिरोपाव आदि भेंट के साथ सन्मान-पूर्वक मुनीम को विदाई दी। मुनीम ने सेठ के घर आकर राख लगाने का सब वृत्तान्त कह सुनाया।

सेठ ने सेठानी से कहा देखो, इस बात के इन्हें दो हजार रुपये मिलते हैं।

अभिप्राय यह है कि गुणों का भूषण ज्ञान है और ज्ञान का भूषण क्षमा है। क्षमा के बराबर कोई दूसरी चीज नहीं है। जिस घर में गृहीणी क्षमावती होती है, वहां कभी क्लेश नहीं होती। जहां क्षमा है वहां किसी प्रकार का मनोमालिन्य नहीं होता और कदाचित होता है तो वह ठहर नहीं सकता और किसी प्रकार का अनर्थ नहीं कर सकता।

बड़ों का कहना है कि मनुष्य को कम खाना चाहिए, गम खाना चाहिए, ऊँच-नीच वचन सह लेना चाहिए, और शान्त होकर रहना चाहिए। गृहस्थी में जहां यह चार बातें होती हैं, वहां बड़े आनन्द के साथ जीवन व्यतीत होता है।

कई लोग भ्रमवश समझते हैं कि क्षमा कायरता की निशानी है, मगर ऐसी बात नहीं। कायरता अलग बात है, क्षमा अलग चीज है। जब कोई कुछ बिगाड़ कर देता है तो कायर मन ही मन कुढ़ता है, जलता है, मगर डर के कारण जीभ नहीं हिला सकता, क्षमा में ऐसी बात नहीं। वह तो प्रतीकार का सामर्थ्य होने पर भी कर्त्तव्य के भाव से की जाती है। भगवान् महावीर ने संगम, चंड कौशिक एवं गोपाल के प्रति जो क्षमा-भाव प्रदर्शित किया, उसका कारण कायरता नहीं था। गजसुकुमार श्रीकृष्ण के बहुत लाड़ले छोटे भाई थे और श्रीकृष्ण का प्रताप कितना था, सो कहने की आवश्यकता नहीं। गजसुकुमार मुनि अगर सोमिल ब्राह्मण की ओर नजर फेर देते तो भी वह थर्रा उठता और भाग खड़ा होता। वह कायर नहीं थे। लोकोत्तर सहनशीलता के धनी थे। अतएव सोमिल की कार्रवाई को उन्होंने उदारतावश सहन किया। उसे भी अपने ध्येय की सिद्धि में सहायक माना। इस प्रकार क्षमा का अर्थ कायरता कहना अपने अज्ञान का प्रदर्शन करना है।

क्षमा बड़प्पन की निशानी है। क्षमा करने वाला सदैव बड़ा गिना जाता है। कहा है—

क्षमा बड़न को होत है, ओछन को उत्पात।
कहा कृष्ण को घटि गयो, जो भृगु मारी लात॥

भाइयों ! 'क्षमा वीरस्य भूषणम्।' शूरवीर का भूषण क्षमा है। जो बदला लेने के लिए समर्थ होने पर भी बदला लेने की इच्छा नहीं करता है और अनिष्ट करने वाले को सहज भाव से क्षमाकर देता है, वह पुरुष वास्तव में धन्य है।

आत्मशुद्धि के लिए क्षमा अत्यन्त आवश्यक गुण है। जैसे सुहागा स्वर्ण को साफ करता है, वैसे ही क्षमाधर्म आत्मा को स्वच्छ बना देता है, क्योंकि कषाय आत्मा को मलीन बनाने वाला दुर्गुण है और क्षमाशील व्यक्ति के हृदय में कषाय की उत्पत्ति नहीं होती। वह अपने किसी उपकार या अनिष्ट के लिए दूसरे को उत्तरदायी नहीं समझता। प्रत्येक घटना का उत्तरदायित्व वह अपने माथे ओढ़ता है। वह समझता है कि–मुझे जो इष्ट या अनिष्ट फल प्राप्त होता है सुख या दुःख उत्पन्न होता है, वह मेरे ही पूर्वकृत कर्म का फल है। इसके लिए किसी को बुरा-भला समझना अज्ञान है।

क्षमावान् पुरुष की विचारधारा निराली ही होती है। अगर कोई उसे अपशब्द कहता है तो वह सोचता है–यह पुरुष धन्यवाद का पात्र है जो मुझे अपशब्द कहकर ही रह जाता है। संसार में कई तो ऐसे होते हैं जो दूसरों को मारते-पीटते भी हैं। यह मुझे मारता-पीटता नहीं, यह गनीमत है।

कभी क्षमावान् सोचता है–इसने मुझे जो अपशब्द कहा है वह सत्य है तो क्रोध नहीं करना चाहिए। यह बेचारा सत्य कहकर मुझे दुर्गुण को दूर करने की चेतावनी दे रहा है। और यदि इसका कहना असत्य है तो यह अज्ञानी है। मैं इस पर क्रोध करूँगा तो मैं भी अज्ञानी हो जाऊँगा।

क्षमावान् को कोई मारता है तो वह सोचता है-यह मेरा उपकारी है जो मार-पीट कर ही रह गया। चाहता तो जान से भी मार सकता था; मगर ऐसा नहीं करता; अतएव यह धन्यवाद का पात्र है।

जब कोई जान से मार डालने को उद्यत होता है तो क्षमावान् सोचता है—मैं अलग और शरीर अलग है। शरीर के नष्ट होने से मेरा नाश नहीं हो सकता। अतः मुझे क्रोध करने की क्या आवश्यकता है? इसके अतिरिक्त यह बेचारा शरीर का ही नाश कर रहा है मेरे धर्म का तो नाश नहीं करता।

इस प्रकार क्षमावान् मनुष्य उलटा विचार न करके सीधा ही विचार करता है। ऐसा करने से उसके चित्त में क्षोभ नहीं होता। वह समाधि में लीन रहता है। बिगाड़ने वाला कुछ भी करे, क्षमावान् का कुछ भी नहीं बिगड़ता।

भाइयो! अमृत का आस्वादन करना हो तो क्षमा का सेवन करे। क्षमा अलौकिक अमृत है। यह सब प्रकार से सुखदाता है। अगर आपके जीवन में सच्ची क्षमा आजाय तो आपके लिए इसी धरती पर स्वर्ग बन सकता है। आपको अन्यत्र कहीं जाने की आवश्यकता नहीं होगी। जैनधर्म में क्षमा का जो महत्त्व है, उसे आप भलीभांति जानते हैं। उसे अपने जीवन में व्यवहृत करो और क्रोध की आग से अपनी अन्तरात्मा को संतप्त न होने दो। ऐसा करने से आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर
८-८-४१



तपः शूर



स्तुतिः—

स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्,
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं,
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! कहां तक आपकी स्तुति की जाय? प्रभो! कहां तक आपका गुण गान किया जाय?

प्रभो! हम आपकी माता और जगत्माता मरुदेवी को कोटि-कोटि धन्यवाद देते है, जिन्होंने आप जैसे अनुपम, असाधारण और अद्वितीय पुरुषरत्न को जन्म दिया। और धन्य

है भगवान् ऋषभदेव, जिन्होंने जन्म लेकर अपनी महामहिमा-मयी माता मरुदेवी को तीनों लोकों में विख्यात कर दिया। आचार्य महाराज कहते हैं—सैंकड़ों स्त्रियां सैंकड़ों पुत्रों को जन्म देती रहती हैं, किन्तु हे नाथ ! किसी दूसरी माता ने आप जैसे पुत्र का प्रसव नहीं किया, यह ठीक ही है, क्योंकि सभी दिशाएँ नक्षत्रों को धारण करती हैं। मगर चमचमाती हुई किरणों से सुशोभित सूर्य का जन्म तो प्राची (पूर्वदिशा) से ही होता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे नक्षत्रों और सूर्य में अन्तर है उसी प्रकार अन्य पुरुषों में और भगवान् ऋषभदेव में अन्तर है। जगत् के अन्य पुरुष नक्षत्रों के सदृश हैं तो भगवान् आदिनाथ सूर्य के समान हैं। इसी प्रकार संसार की माताएँ अन्य दिशाओं के समान हैं तो माता मरुदेवी प्राची दिशा के समान हैं।

भाइयो ! जैसे भगवान् ऋषभदेव का जीवन अद्भुत है उसी प्रकार माता मरुदेवी के जीवन में भी बहुत विशेषता है। वह इतनी बड़ी भाग्यशालिनी थीं कि उनका कोई जोड़ नहीं रखता।

मरुदेवी के पति नाभि थे। जब ऋषभदेव भगवान् ने दीक्षा अंगीकार की तो मरुदेवी को बहुत दुःख हुआ। वे अपने पोते भरत को बार-बार उपालंभ दिया करती थीं कि तू राज्य-सुख में इतना मस्त हो गया है कि ऋषभ की सार-संभाल ही नहीं करता।

भरतजी दादी को समझाने का प्रयत्न करते, मगर उनके हृदय को कभी तसल्ली नहीं हुई। उनकी समझ में ही नहीं आता

था कि ऋषभ इतना विशाल ऐश्वर्य त्याग कर क्यों जंगल ं भटक रहा है और क्यों कष्ट सहन कर रहा है।

आखिर जब भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न हे गया और भरत को सूचना मिली तो वह अपनी मद्रहृदया दादी वे पास जाकर बोले–दादी, आपके दुःखों का अन्त आ गया। चलो, भगवान् ऋषभदेव के दर्शन कराऊँ।

मरुदेवी हाथी पर सवार हुई। भरत चक्रवर्त्ती हाथ में छत्र लेकर उनके पीछे बैठे। कुछ दूर जाने पर देवों द्वार विनिर्मित समवसरण दिखाई दिया तो भरतजी ने कहा–दादीजी देखो अपने बेटे का ऐश्वर्य, जिसके लिए आप इतनी चिन्त किया करती थीं।

उस समय मरुदेवी का हृदय बांसों उछल रहा था। प्रथम तो बहुत दिनों से बिछुड़े बेटे के मिलन की कल्पना का अनिर्वचा नीय आनन्द, फिर बेटे का वह असाधारण ऐश्वर्य। उन आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। प्रेम के आंसुओं से उनके व गीले हो गये।

मगर जब वह समवसरण के निकट पहुँची और ऋष देव न उनके पास आये और न उन्हें अपने पास बुलाने को के आदमी भेजा, तो उनकी विचारधारा एकदम दूसरी दिशा में मु गई। वह सोचने लगीं—मेरे पुत्र की निर्मोहता तो देखो! कित सुख भोग रहा है और कितने देव और मनुष्य इसकी सेवा हैं, मगर मुझसे बात तक नहीं की। मेरी ओर आंख उठा व भी नहीं देखा।

इसके पश्चात् फिर विचारधारा बदली इसके हृदय में मेरे प्रति तनिक भी मोह नहीं रहा तो मुझे भी क्यों मोह रखना चाहिए ? मोह का कारण अज्ञान है और इसका अज्ञान दूर हो गया है, अतएव वह पूर्ण वीतराग हो गया है। मुझे भी इसी प्रकार वीतराग होना चाहिए, क्योंकि आत्मा सब की समान है।

इस प्रकार विचार करते करते मरुदेवी माता ने घातिक कर्मों का क्षय और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। उसी समय अघातिया कर्म भी नष्ट हो गये और वह मोक्ष में जा पहुँचीं।

ऐसी भाग्यशालिनी थीं मरुदेवी माता ! उन्होंने जगत् को एक महान् रत्न प्रदान किया। धन्य है ऐसी माता ! भगवान् ऋषभदेव के साथ मरुदेवी माता भी हमारे लिए आदर्श बनीं।

रात्रि में असंख्य तारे टिमटिमाते हैं और चांद भी अपनी चांदनी फैलाता है, किन्तु यह सब मिलकर भी दिन बनाने में समर्थ नहीं होते। किन्तु प्राची दिशा एक सूर्य को जन्म देती है जो समस्त अंधकार का नाश कर देता है। उसी प्रकार मरुदेवी माता ने ऋषभदेव जैसे तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसने तीनों लोकों के अज्ञानान्धकार का विनाश कर दिया। ऐसे ऋषभदेवजी को सर्वप्रथम नमस्कार हो।

श्रीठाणांगसूत्र में वर्णित चार प्रकार के शूरवीरों का कथन करते हुए कल बतलाया गया था कि क्षमा करने में अरिहन्त के मुकाबिले कोई नहीं है। आज तपशूर के विषय में किंचित् प्रकाश डालना है।

पांच महाव्रतों का पालन करने वाले साधु तप में शूर होते

हैं। वही पुरुष साधु कहलाते हैं जो जीवन पर्यन्त के लिए हिंसा, झूठ, चोरी मैथुन और परिग्रह का तीन कारण और तीन योग से त्याग करके पूर्ण संयम का पालन करते हैं। अपने मन का निग्रह करने के लिए बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या करते हैं। बाईस प्रकार के परीषहों को समभाव से सहन करते हैं और दैविक, मानुषिक या तिर्यंच संबंधी उपसर्गों को दृढ़तापूर्वक सहते हैं।

जैन साधुओं की महान् तपस्या को देखकर दुनियां चकित रह जाती है। अन्य मजहब के साधुओं के लिए आगे से आगे प्रबन्ध हो जाता है, किन्तु जैन साधु ऐसा नहीं करवाते। आज इस पांचवें आरे में भी जैन साधुओं की चर्या बहुत ऊँची है। वे जगत को अपने वचन और व्यवहार से बहुत कुछ देते हैं, परन्तु किसी पर भारभूत नहीं होते। भगवान् ने साधु जीवन इस प्रकार का बतलाया है कि उसके अनुसार चलने वाला पुरुष किसी को भी अखर नहीं सकता।

जब मैंने उज्जैन से विहार किया तो हजारों स्त्री-पुरुष विदाई देने आये। उनमें एक मौलवी साहब भी थे। उन्होंने मुझसे पूछा—अब आप कहां ठहरोगे और कहां भोजन करोगे? मैंने कहा—कुछ भी निश्चित् नहीं है।

मेरा उत्तर सुनकर मौलवी को बहुत आश्चर्य हुआ। बोला—आप तो बड़े महात्मा हैं जिनके विषय में यह निश्चित नहीं है कि कहां ठहरना होगा और कहां भोजन करना होगा।

मैंने मौलवी सा० को बतलाया—जैन साधुओं का जीवन पक्षियों के सदृश है। जैसे पक्षी अपने लिए कोई पूर्व व्यवस्था

नहीं करता, उसी प्रकार जैन साधु भी पहले से कोई व्यवस्था नहीं करते। वह अप्रतिबन्ध विहार करते हैं। नियम के अनुसार ही ठहरते हैं और फिर वहां से चल देते हैं। पक्षी तो फिर भी अपने लिए घोंसला बना रखते हैं मगर जैन साधु के लिए कोई एक निश्चित घर नहीं होता। जहां जगह मिल गई, ठहर गये, न मिली तो किसी पेड़ के नीचे विश्राम कर लिया। इसी प्रकार भिक्षावृत्ति के द्वारा शरीर निर्वाह करते हैं। गृहस्थों ने अपने लिये जो भोजन बनाया है, उसमें से हम थोड़ा २ कई घरों से लेते हैं। निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते। हमें पता चल जाय कि किसी गृहस्थ ने हमारे निमित्त भोजन बनाया है तो हम उसके घर भिक्षा लेने ही नहीं जाते हैं।

तो भगवान् ने फर्माया है कि साधुओं के बराबर तप करने वाला अन्य कोई नहीं है। तपस्या साधु जीवन का अनिवार्य अंग है तपस्या किये बिना संयम का ठीक तरह पालन नहीं हो सकता और संयम के बिना अहिंसा धर्म का पालन होना सम्भव नहीं है। इसी कारण भगवान् ने धर्म के यही तीन रुप प्रकट किये हैं और इन्हीं को उत्कृष्ट मंगलमय धर्म कहा है—

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।

यहां अहिंसा, संयम और तप, इस प्रकार कहकर तप को तीसरा स्थान दिया है, इसका कारण यही है कि अहिंसा का पालन करने के लिए संयम की अनिवार्य आवश्यकता है। जिसकी इन्द्रियां स्वच्छन्द होंगी, जिसमें विषयलोलुपता होगी, जो अपने मन को काबू में रखने में असमर्थ होगा और उसे इधर-उधर

भागने देगा, उसमें संयम नहीं हो सकता और संयम के बिना अहिंसा का पालन असंभव है। मगर संयम वही रख सकता है जो तपस्या करेगा। तप के अभाव में संयम नहीं हो सकता।

इस प्रकार तप संयम का जनक है और संयम अहिंसा का जनक है। अतएव वास्तव में तप ही धर्म का आधार सिद्ध होता है।

तपस्या कर्मों का नाश करने के लिए अनिवार्य साधन है। भव-भव के संचित कर्मों को दग्ध करने के लिए तप के अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं है।

जैसे स्वर्ण आदि धातु मिट्टी से मिली हुई होती है उसी प्रकार यह जीव अनादि काल से कर्मों से मिला हुआ है। मिट्टी से स्वर्ण को पृथक् करने वाली द्रव्य-अग्नि होती है, उसी प्रकार कर्मों से आत्मा को पृथक् करने वाली तपस्या है। अतएव जो पुरुष मुक्ति के अभिलाषी हैं, उन्हें तपस्या अवश्य करना चाहिए। तप के मूल भेद दो हैं—

सो तवो दुविहो वुत्तो, वाहिरब्भिंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो॥

—उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थात्—तप के दो भेद कहे गये हैं—बाह्य तप और आभ्यन्तर तप। इनमें से बाह्य तप के छह भेद हैं और आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं।

बाह्य तपों में पहला अनशन तप है। यह भी दो प्रकार का है—यावज्जीवन और इत्वरिक। विशेष कारणों के उपस्थित

होने पर जीवन भर के लिए जो अनशन किया जाता है, वह यावज्जीवन अनशन कहलाता है। इसे संथारा भी कहते हैं। यह तीन प्रकार का है—(१) पादोपगमन (२) इङ्गिनीमरण और (३) भक्तप्रत्याख्यान। इन सब की विधि का वर्णन आचारांग आदि सूत्रों से समझा जा सकता है। समयाभाव के कारण इस समय विशद विवेचना करना संभव नहीं है।

इत्वरिक तप का अर्थ है अल्पकालीन तप। उपवास, वेला, तेला आदि करना इत्वरिक तप है। कनकावली, रत्नावली, एकावली, मुक्तावली सिंहक्रीडित, भद्रप्रतिमा आदि नाना प्रकार के तप इसी में सम्मिलित हैं।

प्राचीनकालीन महर्षियों ने नाना प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या का आचरण करके अपनी आत्मा को सबल और कर्मों को निर्बल किया और अन्त में समस्त कर्मों को समूल नष्ट करके शुद्ध आत्मस्वरूप की उपलब्धि की।

तपस्या के द्वारा कर्मों की सेना चकचूर की जाती है, परन्तु तपस्या ज्ञानपूर्वक होनी चाहिए। ज्ञानपूर्वक की जाने वाली तपस्या मुक्ति का कारण होती है। वही जब अज्ञान पूर्वक की जाती है तो मुक्ति का कारण नहीं होती, स्वर्ग आदि अभ्युदय की प्राप्ति का कारण अवश्य होती है। कोई भी आचरण क्यों न हो, जब वह ज्ञानपूर्वक किया जाता है तभी इष्ट फल देने वाला होता है। मुक्ति के लिए और दूसरी सांसारिक सफलताओं के लिए भी इन दोनों का होना नितान्त आवश्यक है। जैसे एक चक्र से रथ नहीं चल सकता, उसी ज्ञानरहित चारित्र से और चारित्ररहित ज्ञान से मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

कई लोग समझते हैं कि तपश्चर्या आदि क्रिया से ही हम मोक्ष प्राप्त कर लेंगे और ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होगी, परन्तु उनका यह समझना भ्रमपूर्ण है। ज्ञानहीन मनुष्य अंधे के समान है। अंधे के पैरों में चलने की शक्ति होती है और वह चलता भी है, परन्तु उसकी गति सही राह पर ही हो, यह नहीं हो सकता। किसी भी ओर उसके पैर पड़ सकते हैं और वह कहीं भी ठोकर खाकर गिर सकता है। वह अपने लक्ष्य पर सही सलामत नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार अज्ञानी जीव तपस्या करता है और उससे कर्मों की थोड़ी-बहुत निर्जरा भी हो जाती है, किन्तु शुद्ध आत्मस्वरूप का भान न होने से वह मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। यही कारण है कि भगवान् ने चारित्र से भी पहले ज्ञान की प्राप्ति करना आवश्यक बतलाया है—

पढमं नाणं तओ दया।

अर्थात्—पहले वस्तुस्वरूप को समझो, आत्मा-अनात्मा का विवेक प्राप्त करो, संसार और मोक्ष के कारणों को समझो, तत्पश्चात् उस ज्ञान के अनुसार आचरण करो। ज्ञान के बिना ही आचरण करोगे तो कदाचित् धर्म के बदले अधर्म का आचरण करने लगोगे। जीव को अजीव समझ लोगे तो अहिंसा का पालन नहीं हो सकेगा। संसार परिभ्रमण के कारणों को मोक्ष का कारण मान बैठोगे तो मोक्ष मिलना तो दूर रहा, उलटे नरक का अतिथि बन जाओगे।

अभिप्राय यह है कि जब तक मनुष्य ज्ञान के आलोक में नहीं आता, तब तक वह आत्मकल्याण के प्रशस्त पथ पर चलने

में समर्थ नहीं हो सकता। अतएव तपस्या को सार्थक करने के लिए ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

ज्ञानपूर्वक की जाने वाली तपस्या भी निष्काम भाव से होनी चाहिए। भगवान् ने फर्माया है—

चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ, तंजहा—

(१) नो इहलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा

(२) नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा

(३) नो कित्तिवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा

(४) नन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठिज्जा।

अर्थात्—तप-समाधि चार प्रकार की होती है, यथा—

(१) इस भव में धन, पुत्र, मुकदमे में जीत आदि की कामना से तपश्चर्या नहीं करना चाहिए।

(२) परभव में स्वर्ग आदि के सुखों की प्राप्ति की इच्छा से तप नहीं करना चाहिए।

(३) यश-कीर्त्ति, पूजा-प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा के उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए।

(४) सिवाय निर्जरा के—आत्मशुद्धि के—अन्य किसी भी प्रयोजन के लिए तप नहीं करना चाहिए।

यह सत्य है कि तपस्या से इहलोक सम्बन्धी सुख भी मिलते हैं और परलोक सम्बन्धी सुखों की भी प्राप्ति होती है; सन्मान, यश-कीर्त्ति की भी प्राप्ति होती है, परन्तु यह सब प्रयो-

जन अत्यन्त गौण हैं, साधारण हैं। जैसे चिन्तामणि रत्न कौए उड़ाने के काम भी आ सकता है परन्तु इस काम के लिए चिन्तामणि को फेंक देने वाला मनुष्य बुद्धिमान् नहीं गिना जा सकता। तपस्या चिन्तामणि रत्न से भी बहुमूल्य साधन है। इसका उपयोग आत्मशुद्धि के लिए ही होना चाहिए। कर्मनिर्जरा के ध्येय से ही तप करना चाहिए। सांसारिक भोगोपभोगों की प्राप्ति के लिए तपश्चरण करना चिन्तामणि रत्न को कौवा उड़ाने के काम में लाने के समान है। कर्मों की निर्जरा के लिए तपस्या करने पर सांसारिक वैभव आदि तो अनायास ही प्राप्त हो जाता है। उसके लिए तपस्या के महान् फल को नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

कृषक धान्य की प्राप्ति के लिए खेती करता है तो क्या उसे खाखला (भूसा) नहीं मिलता है? मगर वह किसान तो मूर्ख ही माना जाएगा जो सिर्फ खाखले (भूसे) के लिए ही खेती करता है। इस कारण भगवान ने जहां तपस्या को आवश्यक बतलाया है, वहीं उसके उद्देश्य की शुद्धि पर भी पूरा भार दिया है। उद्देश्य शुद्धि के बिना क्रिया का पूरा फल प्राप्त नहीं हो सकता।

जैसे अज्ञानपूर्वक की जाने वाली तपस्या निरर्थक है, उसी प्रकार चारित्रहीन ज्ञान भी निरर्थक है। ज्ञान का वास्तविक फल यही है कि हेय-उपादेय को जानकर हेय का त्याग किया जाय और उपादेय को ग्रहण किया जाय। संसार के कारण अर्थात् आस्रव और बंध हेय हैं तथा मोक्ष के कारण अर्थात् संवर और निर्जरा उपादेय हैं। जो पुरुष इन्हें जान तो लेता है, परन्तु इनके अनुसार आचरण नहीं करता, उसका जानना किस काम का है?

ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशशील है। जिसका उदय होने

पर भी अंधकार बना रहता है, वह सूर्य नहीं कहलाता। इसी प्रकार जिसके प्राप्त हो जाने पर भी सदाचार में प्रवृत्ति नहीं होती, वह सम्यग् ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। इस विषय में कहा है—

रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो,
विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्।
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं,
ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः॥

अर्थात्—सच्चा ज्ञान वही है जिसके द्वारा जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की रक्षा करता है शारीरिक सुखों से अर्थात् कामभोगों से विरक्ति प्राप्त करता है, पापों को रोकता है और अपनी आत्मा की शुद्धि करता है ऐसे सत्प्रवृत्ति-जनक ज्ञान को ही सर्वज्ञ भगवान् ने ज्ञान कहा है। जिस ज्ञान से इस उद्देश्य की सिद्धि न हो वह निरर्थक ज्ञान, ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता।

अतएव यह स्पष्ट है कि ज्ञान के बिना चारित्र कार्यकारी नहीं होता और चारित्र के बिना ज्ञान निरर्थक होता है। जैसे पक्षी दोनों पंखों से ही उड़ सकता है, उसी प्रकार मनुष्य ज्ञान-चारित्र के द्वारा ही अपना उत्थान कर सकता है। दोनों में से किसी भी एक के अभाव में मनुष्य को पूर्ण कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव दोनों की साधना करना ही उचित है।

तपस्या चारित्र का प्रधान अंग है। इसी कारण साधु

जन अत्यन्त गौण हैं, साधारण हैं। जैसे चिन्तामणि रत्न कौआ उड़ाने के काम भी आ सकता है परन्तु इस काम के लिए चिन्तामणि को फेंक देने वाला मनुष्य बुद्धिमान् नहीं गिना जा सकता। तपस्या चिन्तामणि रत्न से भी बहुमूल्य साधन है। इसका उपयोग आत्मशुद्धि के लिए ही होना चाहिए। कर्मनिर्जरा के ध्येय से ही तप करना चाहिए। सांसारिक भोगोपभोगों की प्राप्ति के लिए तपश्चरण करना चिन्तामणि रत्न को कौआ उड़ाने के काम में लाने के समान है। कर्मों की निर्जरा के लिए तपस्या करने पर सांसारिक वैभव आदि तो अनायास ही प्राप्त हो जाता है। उसके लिए तपस्या के महान् फल को नष्ट कर देना बुद्धिमत्ता नहीं है।

कृषक धान्य की प्राप्ति के लिए खेती करता है तो क्या उसे खाखला (भूसा) नहीं मिलता है ? मगर वह किसान तो मूर्ख ही माना जाएगा जो सिर्फ खाखले (भूसे) के लिए ही खेती करता है। इस कारण भगवान ने जहां तपस्या को आवश्यक बतलाया है, वहीं उसके उद्देश्य की शुद्धि पर भी पूरा भार दिया है। उद्देश्य शुद्धि के बिना क्रिया का पूरा फल प्राप्त नहीं हो सकता।

जैसे अज्ञानपूर्वक की जाने वाली तपस्या निरर्थक है, उसी प्रकार चारित्रहीन ज्ञान भी निरर्थक है। ज्ञान का वास्तविक फल यही है कि हेय-उपादेय को जानकर हेय का त्याग किया जाय और उपादेय को ग्रहण किया जाय। संसार के कारण अर्थात् आस्रव और बंध हेय हैं तथा मोक्ष के कारण अर्थात् संवर और निर्जरा उपादेय हैं। जो पुरुष इन्हें जान तो लेता है, परन्तु इनके अनुसार आचरण नहीं करता, उसका जानना किस काम का है ?

ज्ञान सूर्य के समान प्रकाशशील है। जिसका उदय होने

पर भी अंधकार बना रहता है, वह सूर्य नहीं कहलाता। इसी प्रकार जिसके प्राप्त हो जाने पर भी सदाचार में प्रवृत्ति नहीं होती, यह सम्यग् ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। इस विषय में कहा है—

रत्नत्रयीं रक्षति येन जीवो,
विरज्यतेऽत्यन्तशरीरसौख्यात्।
रुणद्धि पापं कुरुते विशुद्धिं,
ज्ञानं तदिष्टं सकलार्थविद्भिः॥

अर्थात्—सच्चा ज्ञान वही है जिसके द्वारा जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की रक्षा करता है शारीरिक सुखों से अर्थात् कामभोगों से विरक्ति प्राप्त करता है, पापों को रोकता है और अपनी आत्मा की शुद्धि करता है ऐसे सत्प्रवृत्तिजनक ज्ञान को ही सर्वज्ञ भगवान् ने ज्ञान कहा है। जिस ज्ञान से इस उद्देश्य की सिद्धि न हो वह निरर्थक ज्ञान, ज्ञान ही नहीं कहा जा सकता।

अतएव यह स्पष्ट है कि ज्ञान के बिना चारित्र कार्यकारी नहीं होता और चारित्र के बिना ज्ञान निरर्थक होता है। जैसे पक्षी दोनों पंखों से ही उड़ सकता है, उसी प्रकार मनुष्य ज्ञान-चारित्र के द्वारा ही अपना उत्थान कर सकता है। दोनों में से किसी भी एक के अभाव में मनुष्य को पूर्ण कल्याण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव दोनों की साधना करना ही उचित है।

तपस्या चारित्र का प्रधान अंग है। इसी कारण साधु

निरन्तर तपस्या में निरत रहते हैं। तपस्या से अनेक प्रकार के लाभ होते हैं। यूरोप के लोग भी अब तपस्या के लाभ को समझने लगे हैं। और वे चिकित्सा पद्धति में भी अनशन का प्रयोग करते हैं। उपवास चिकित्सा से अनेक रोग दूर हो जाते हैं। शरीर की शुद्धि भी होती है। मगर आध्यात्मिक शुद्धि के लिए तो वह अनिवार्य है।

कल्पना कीजिए कि एक बड़ा तालाब है और उसे खाली करना है। तो सर्वप्रथम उसमें आने वाले पानी के स्रोतों को बंद करना होगा, जिससे नया पानी आना बंद हो जाय तत्पश्चात् उसमें पहले से पानी को उलीचना होगा। इसी तरह दो प्रकार के प्रयत्न से तालाब खाली होगा। इस तरह दो प्रकार के प्रयत्न से तालाब खाली होगा। इसी प्रकार आत्मा एक सरोवर के समान है। इसमें शुभ-अशुभ कर्म रूपी पानी भरा है। उसे सुखाने के लिए सर्वप्रथम पांच आस्रव रूपी नालों को बंद करना चाहिए और फिर पहले से भरे हुए पानी को तपस्या करके, निर्जरा करके उलीचना चाहिए। तपस्या कोटि-कोटि भवों में संचित कर्मों को जलाकर भस्म कर देती है।

तपस्या के कई भेद हैं—नवकारसी, पोरसी आदि।

जो कर्म सौ वर्ष तक भोगे,
उसको नौकारसी नाश करे।
अरु सहस्र वर्ष के अशुभ कर्म को,
पौरसी का तप नाश करे॥

साधुओं के लिए तपस्या ही सबसे बड़ा धन है। अतः उन्हें 'तपोधन' भी कहते हैं। तपस्या की शक्ति इतनी अद्भुत हैं कि कहीं नहीं जा सकती। उग्र तपस्वियों की चरण-रज और शरीर की हवा लग जाने ने रोग एक दम छूमन्तर हो जाते हैं।

एक सेठ को दुर्दैववशात् कुष्ठ रोग हो गया। धीरे-धीरे उसने भयंकर रूप धारण किया। हजारों रुपये खर्च करने पर भी वह दूर न हुआ और शरीर गलता ही गया। आप जानते हैं कि प्राण सबको प्यारे होते हैं और सबको अपना-अपना सुख प्रिय है। अतएव सेठ की पत्नी भी उससे परहेज करने लगी कि कहीं इनके शरीर की हवा लग जाने से मुझे भी इस बीमारी का शिकार न हो जाना पड़े, अन्य कुटुम्बी जन भी अपना बचाव करने लगे।

छूत से बचने के उद्देश्य से सेठ को मकान के पिछले भाग में बने एक बाड़े में रक्खा गया। भोजन भी एक छोटी सी बनी गाड़ी में थाली रखकर सरकाया जाने लगा।

एक दिन अकस्मात् बाड़े का एक द्वार खुला था और भोजन की थाली गाड़ी में रक्खी हुई थी कि मासखमण की तपस्या का पारणा करने के लिए भिक्षार्थ एक महामुनिराज वहां जा पहुँचे। वह यकायक सेठ के पास पहुँचे और भिक्षा की याचना की। सेठ ने अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ उन्हें प्रणाम किया और कहा महामुने! आपने अपने चरण-रज से इस स्थान को पावन किया, अतः मैं कृतार्थ हुआ। खेद है कि मैं अपने हाथ से आपको आहारदान देने का लाभ नहीं ले सकता। मेरे दोनों

हाथ कुष्ठ रोग से ग्रस्त हैं और छूत का रोग है। बड़ी कृपा होगी, यदि आप अपने ही हाथ से आहार ग्रहण कर लें।

मुनि ने कहा-भय की कोई बात नहीं है। तुम्हीं अपने हाथ से आहार दे दो।

सेठ ने आहार दिया और मुनि ने बैठने की आज्ञा प्राप्त करके वहीं बैठ कर भोजन किया। इतनी देर बैठने से मुनि के शरीर की रोगनाशिनी हवा ने सेठ के शरीर को स्पर्श किया। सेठ का रोग कम होने लगा-शरीर ठीक होने लगा। थोड़े ही काल में कुष्ठ समूल नष्ट हो गया।

स्वस्थ होने पर सेठ के कुटुम्बियों को असीम प्रसन्नता हुई। वे सब उसके पास आने लगे। वैद्य उसे देखकर आश्चर्य प्रकट करने लगे। पूछने लगे—सेठजी! आपने किस दवा का सेवन किया था?

सेठ ने कहा—मैं तपस्या के फल का सेवन करके स्वस्थ हुआ हूँ। मुझे भाग्य से एक तपस्वी-चिकित्सक मिल गये थे। इस प्रकार कह कर सेठ ने उन्हें मासखमण की तपस्या करने वाले मुनि का परिचय दिया।

इस घटना से सेठ का जीवन एकदम बदल गया। उसे संसार-परिवार से अरुचि हुई। तपोमय जीवन व्यतीत करने की इच्छा हो गई। उसने अपने परिवार से कहा—आप सब को मालूम ही है कि यह शरीर गल रहा था और जाने की तैयारी में था। पुद्गल का स्वभाव ही पूरण और गलन होने का है। अगर यह शरीर कुष्ठ से नहीं गलता तो किसी अन्य निमित्त से गलता

या गलेगा। यह सात धातुओं का पुतला है। 'शरीर' शब्द का अर्थ ही है—'शीर्यते इति शरीरम्' अर्थात जो नष्ट हो जाय वह शरीर कहलाता है। ऐसी स्थिति में जिसने मेरे शरीर को नीरोग बनाया है और उपयोग में आने योग्य बनाया है, मैं उन्हीं के पास जाकर और उन्हीं की सेवा में रह कर आत्मशुद्धि करूँगा।

सेठ ने कहा—दुनिया जानती है कि शरीर एक दिन त्यागना ही पड़ेगा, मगर मोह की अधिकता के कारण यह जानना काम नहीं आता। मैं भी इसी मोह से अन्धा हो रहा था। मगर रोग ने मेरे नेत्र खोल दिये। अतएव इस रोग को भी मैं परमोपकारी समझता हूँ। वह रोग क्या आया मेरा गुरु आया था। सन्तों के उपदेश से जो काम नहीं हुआ, वह कुष्ठ रोग से हो गया। अब मुझे कामभोगों की लालसा नहीं रह गई है और संसार से विरक्ति हो गई है। मैं दीक्षा लेकर आत्मकल्याण करूँगा।

और सेठ ने ऐसा ही किया और दीक्षा अंगीकार की।

भाइयो! तपस्या के फलस्वरूप अनेक प्रकार की लब्धियों-ऋद्धियों की प्राप्ति होती है। शास्त्रों में उनका वर्णन मिलता है, यथा—

(१) आमर्षौषध लब्धि—तपस्या करने से तपस्वी में ऐसी शक्ति प्रकट हो जाती है कि उसके चरणों की रज के स्पर्श मात्र से सब प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं।

(२) श्लेष्मौषध लब्धि—तपस्वी के थूक में समस्त रोगों को निवारण करने की शक्ति होना।

(३) विप्रुट्-औषधलब्धि—मल-मूत्र में रोगापहरण की शक्ति उत्पन्न हो जाना।

(४) जल्लौषधलब्धि—तपस्वी के शरीर के मैल में सब बीमारियां मिटाने की शक्ति होना।

(५) सर्वौषधलब्धि—उपर्युक्त सभी में रोग को नष्ट करने की शक्ति होना।

(६) संभिन्नश्रोतोलब्धि—तपस्वी में ऐसी अद्भुत शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि उसकी प्रत्येक इन्द्रिय, पांचों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करती है। अर्थात् वह कान से सुनता है, देखता है, सूंघता है, रस और स्पर्श का अनुभव भी करता है। इसी प्रकार आंख, कान, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय से भी पांचों विषयों को ग्रहण करता है।

(७) अवधिज्ञान—विना इन्द्रियों और मन की सहायता के ही रूपी पदर्थों को जान लेना।

(८) ऋजुमति मनःपर्ययलब्धि—दूसरे के मन की सरल बात को जान लेना।

(९) विप्रलमतिमनःपर्यवलब्धि—दूसरे के मन की बात विशद रूप में जानना।

(१०) केवलज्ञानलब्धि।

(११) चारणलब्धि—आकाश में उड़कर इच्छित स्थान पर पहुँच जाने की शक्ति। इस लब्धि से सम्पन्न तपस्वी एक ही छलांग में नन्दीश्वर नामक आठवें द्वीप में जा पहुंचते हैं और इसी प्रकार लौट भी सकते हैं।

(१२) आशीविषलब्धि—हलाहल विष को भी अमृत के रूप में परिणत कर देने की शक्ति।

(१३) गणधरलब्धि

(१४) पूर्वधरलब्धि—चौदह पूर्वों का ज्ञान प्राप्त कर लेने की शक्ति।

(१५) अर्हन्तलब्धि

(१६) चक्रवर्त्ती लब्धि

(१७) बलदेवलब्धि

(१८) वासुदेवलब्धि

(१९) क्षीराश्रवलब्धि—नीरस आहार को हाथ के स्पर्श से सरस बना देने की तपस्वी की शक्ति।

(२०) मधु-आश्रवलब्धि—कटुक आहार को मधु के समान मीठा बना देने की शक्ति।

(२१) सर्पिराश्रवलब्धि—रूक्ष आहार को घृत के समान स्निग्ध बना देने की शक्ति।

(२२) कोष्ठबुद्धिलब्धि—प्राप्त किये हुए ज्ञान को पूरी तरह धारण कर रखने की शक्ति।

(२३) बीजबुद्धि—जैसे खेत में बोया एक बीज सहस्रगुणा हो जाता है, उसी प्रकार सीखा हुआ एक पद हजार गुणा परिणत होने की सक्ति।

(२४) व्यंजनलब्धि—अनधीत विद्या में से कोई किसी अक्षर को भूल जाय तो बता सकने की शक्ति।

(२५) पदानुसारिणी लब्धि--एक पद का अनुसरण करके सम्पूर्ण ग्रन्थ को समझ लेने की शक्ति।

(२६) वैक्रियलब्धि--अनेक रूप बना लेने की शक्ति।

(२७) अक्षीणमहानसलब्धि—वस्तु को स्पर्श मात्र से अक्षय बना देने की शक्ति।

(२८) पुलाकलब्धि—कुपित होने पर चक्रवर्त्ती की सेना को भी भस्म कर देने की शक्ति।

तपस्या से इस प्रकार की लब्धियां प्राप्त होती हैं। मगर मुमुक्षु जीव इनकी प्राप्ति के लिए तपस्या नहीं करते। उनका ध्येय तो सिर्फ आत्मशुद्धि का होता है। वास्तव में तप का प्रभाव अचिन्तनीय है।

भाइयो ! शुद्ध भाव से तपस्या करने वाले तपशूर कहलाते हैं और संसार-सागर से पार होते हैं। ऐसा करने से आपको भी आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

ब्यावर }
८-८-४१ }



दानशूर



स्तुतिः—

मन्ये वरं हरिहरादय एव दृष्टाः,
दृष्टेषु येषु हृदयं त्वयि तोषमेति।
किं वीक्षितेन भवता भुवि येन नान्यः,
कश्चिन मनो हरति नाथ! भवान्तरेऽपि॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम ऋषभदेव भगवन्! कहां तक आपकी स्तुति की जाय? प्रभो! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ?

प्रभो! जगत् में अनेक देव प्रसिद्ध हैं। कोई विष्णु को अपना आराध्य मानता है, कोई शंकर भोलानाथ का भक्त है, किसी की ब्रह्मा आदि पर आस्था है तो कोई इन्द्र को पूजनीय

समझता है। किन्तु जो आपके साक्षात् दर्शन कर लेते हैं और आपके वचनामृत का पान कर लेते हैं, वे अन्य सभी देवों को भूल जाते हैं और आपके ही भक्त हो जाते हैं। पहले वे अन्य देवों को ही अपना ईश्वर, आराध्य और उपासनीय समझते थे, मगर जब आपके दर्शन किये तो आपकी परम वीतरागतामयी मुखमुद्रा देखकर हृदय को अपूर्व सन्तोष की प्राप्ति हुई। वह कहने लगे—चलो अच्छा ही हुआ जो पहले अन्य -देवों के संसर्ग में आये और फिर वीतराग भगवान् के दर्शन हुए। इससे दोनों की अर्थात् वीतराग और अवीतराग (रागी) की तुलना करने का सुअवसर मिला। वीतराग देव की विशिष्टता और महत्ता समझने में सुभीता हुआ। इस तुलना का परिणाम यह हुआ कि अब वीतराग भगवान् को छोड़कर अन्य कोई भी देव चित्त में नहीं जँचता।

भाइयो ! जब कोई एक ही वस्तु देखी जाती है और उसकी सजातीय दूसरी वस्तु के साथ तुलना नहीं की जाती, तब तक उसकी विशेषता ठीक तरह समझ में नहीं आती है। उसका सही स्थान निश्चित नहीं किया जा सकता। तुलना करने के बाद जब उसकी उत्कृष्टता निश्चित कर ली जाती है तो उस पर दृढ़ प्रतीति हो जाती है और किसी प्रकार की शंका के लिए अवकाश नहीं रहता।

किसी व्यक्ति ने मिश्री का स्वाद न चखा हो और गुड़ ही गुड़ खाया हो तो वह मिश्री के स्वाद को कैसे समझेगा ? मगर जब मिश्री का स्वाद ले लेता है, तब उसे कभी नहीं भूलता। उसे गुड़ और मिश्री की तुलना करने का अवसर मिल जाता है। वह

मिश्री की स्वादुता को समझ लेता है। फिर उसको गुड़ हीन दिखाई देने लगता है। इसके विपरीत, किसी ने गुड़ न चखा हो और पहले-पहल मिश्री ही चखी हो, तो उसके मन में यह तो आशंका रह सकती है कि शायद गुड़ मिश्री से भी अधिक स्वादिष्ठ हो! लेकिन जो दोनों का स्वाद ले चुका है, उसके चित्त में मिश्री की महत्ता के विषय में सन्देह नहीं रहता।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने रागी और वीतरागी, दोनों प्रकार के देवों का परिचय प्राप्त किया है, उसे वीतरागी की महत्ता ठीक तरह मालूम हो जाती है और उसे ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है कि किसी प्रकार का संशय नहीं रहता।

प्रभो! जो व्यक्ति निष्पक्ष भाव से आपकी शरण में आ जाता है, उसका समस्त मिथ्यात्व हट जाता है। वह आपका सच्चा और पक्का भक्त बन जाता है। ऐ प्रभो! इस महान् महिमा से पंडित आपके चरण कमलों में सर्वप्रथम नमस्कार हो।

श्रीमत् ठाणांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के शूरवीरों का वर्णन किया है। उनमें से क्षमाशूर और तपःशूर का विवेचन हो चुका है। आज दानशूर के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालने का विचार है।

दान देने में जो शूरवीर होते हैं; उन्हें दानशूर कहते हैं। दानशूर में उत्तर दिशा के लोकपालों की विशेष रूप से गणना की जाती है। तीर्थंकरों के जन्मकल्याणक, दीक्षाकल्याणक आदि शुभ अवसरों पर यह देवता करोड़ों सोनैया दान देते हैं।

भाइयों! दान, शील, तप और भावना के भेद से चार

प्रकार का धर्म बतलाया गया है। इसमें दान को सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है।

दानान्तराय कर्म का क्षयोपशम हो और मोहनीय कर्म की मंदता के कारण द्रव्य के प्रति ममत्व की कमी हो जाय, तब दान दिया जाता है। दान देने की भावना पुण्यवान् जीवों को होती है। जिनका भविष्य खराब होने वाला होता है, वे दान नहीं दे सकते। दान देने की इच्छा ही उनको नहीं होती। यहां तक कि अपने पड़ौसी को दान देते देखकर उनके दिल में दर्द पैदा हो जाता है। कई लोगों के दान देते समय हाथ कांपने लगते हैं।

आजकल के लोगों को दूध और पूत छोड़ना मुश्किल होता है। धन्य है उस सुलसा माता को जिसने एक साथ अपने छह पुत्रों को दीक्षा देने की अनुमति दे दी। धन्य हैं तीन खंड के अधिपति श्री कृष्ण महाराज, जिन्होंने अपनी रानी रुक्मिणी को आगे करके कहा तुम दीक्षा अंगीकार करलो।

आज कहां है वह धर्मभावना? वह युग कभी का समाप्त हो गया जब परिवार के लोग एक दूसरे के धर्मसाधन में सहायक और प्रेरक बनते थे। वे परस्पर में एक दूसरे के सच्चे हितैषी थे। क्षुद्र और संकीर्ण स्वार्थ या ममत्व के आधार पर वे पारस्परिक संबंधों का निर्वाह नहीं करते थे। उस समय पति पत्नी के धर्म में सहायक होता था और पत्नी पति के धर्म में सहायक होती थी। शास्त्र में पत्नी को 'धम्मसहाया' के विशेषण से उल्लिखित करने का यही कारण है। आज भी लोग क्या ऐसा समझते हैं? आज की स्थिति तो यह है कि पति पत्नी को भोग की

सामग्री मानता है तो पत्नी पति को अपने विषय सुख का साधन समझती है। सभी एक दूसरे को अपने स्वार्थ का पूरक मानते हैं। परन्तु प्राचीन काल में ऐसा नहीं होता था। वे अपने प्रिय से प्रिय परिजन को भी धर्मसाधना के हेतु गृहत्याग देने की अनुमति दे दिया करते थे। उनकी करनी उनके साथ गई और जगत् के लोगों में यश की सुगन्ध रह गई।

तो आज अपने हाथ से दान देना बड़ा कठिन है। एक गांव में एक सेठ रहता था। उसके पास बीस लाख की पूंजी थी, मगर दिल से वह बहुत कंजूस था। दूसरे गांव जाता तो किसी के घर जीमता नहीं था, क्योंकि वह समझता था कि यदि जीमूंगा तो जिमाना भी पड़ेगा! उसके गांव में कोई सन्त-महात्मा पहुँच जाते तो खबर मिलते ही वह दूसरे गांव चल देता था। गांव में रहता तो उन्हें आहार देना पड़ता या दर्शनार्थ आये अतिथियों को जिमाना पड़ता।

इतनी कंजूसी करने पर भी उसकी पूंजी बढ़ी नहीं, वरन् निरन्तर क्षीण होती गई। आज मुश्किल से उसके पास दो-चार लाख की पूंजी होगी।

भाइयों! भ्रम में मत रहो। उलटी धारणा को त्यागो। दान देने से पुंजी घटती नहीं, बढ़ती है। पूंजी की वृद्धि का असली उपाय दान ही है। पहले दान किया होगा, उसीके फलस्वरूप आज पूंजी मिली है और अब दान दोगे तो आगे पाओगे। मगर आप लोगों ने तो जैसे अपना कोई निराला ही शास्त्र बना लिया है! आप समझते हैं कि पूंजी से चिपके रहने से पूंजी बढ़ेगी।

धन का स्वामी असल में वही है जो उसे सत्कार्य में लगाता है और उससे पुण्योपार्जन करता है। जो धन की रक्षा करने में ही रहता है वह उसका स्वामी नहीं, दास है, गुलाम है। वह धन उसे दुर्गति में ले जाकर पटकेगा उसकी अधोगति का कारण बनेगा। दुःखों का सर्जन करेगा।

राजा भोज का नाम आपने सुना होगा। वह बहुत विद्यावान् था, विद्या का अनुरागी था और विद्वानों की बड़ी कद्र करता था। अनेक विद्वान् उसकी सभा की शोभा बढ़ाते थे। भोज स्वयं कवि था और राजकाज के सिवाय उसका बहुत-सा समय साहित्यिक विनोद में ही व्यतीत होता था। भोज एक दिन राजसभा में बैठा था कि एक मधुमक्षिका उसकी बांह पर आ बैठी। राजा ने उसे हाथ मलते और सिर धुनते देखा। मधुमक्खी की यह चेष्टा देखकर राजा के चित्त में उसका कारण जानने का कुतूहल उत्पन्न हुआ। उसने पंडितों को बुलाया और कारण पूछा।

विद्वानों ने कहा–महाराज ! मक्खी कहती है कि-राजन् ! संचय करने में ही मत रहो। हाथों से कुछ दान भी दो। अन्यथा आपकी भी वही हालत होगी जो मेरी हुई है। मैं शहद का संचय करने में ही रही। न मैंने उसका उपभोग किया और न दान ही दिया। फल यह हुआ कि उस संचित मधु की बदौलत मेरी जिंदगी खतरे में पड़ गई। लोगों ने धुआं लगाकर मेरा सारा संचित धन लूट लिया।

विद्वानों का यह कथन सुनकर राजा भोज बहुत प्रसन्न हुआ। उदारता उसमें पहले भी थी, इस घटना से और अधिक

बढ़ गई। वह अपने खजाने का विशेष रूप से सदुपयोग करने लगा।

राजा कर्ण का नाम आज भी लोगों की जीभ पर है। इसका कारण उसकी दानशीलता ही है। कुछ विशेष कार्य किये बिना दुनियां किसी को याद नहीं करती।

भाइयों! नीतिकार कहते हैं कि—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

धन की तीन गतियां हैं-(१) धन का दान किया जाय (२) उपभोग कर लिया जाय और (३) नष्ट हो जाय—चला जाय। जो व्यक्ति दान और उपभोग नहीं करता, उसके धन की तीसरी गति होती है, अर्थात् वह नष्ट हो जाता है।

कई लोग लेने ही लेने में रहते हैं, देने का नाम तक नहीं लेते। मगर उन्हें याद रखना चाहिए कि दिये बिना लिया नहीं जा सकता।

एक मनुष्य के घर मेहमान आये। अतिथि सत्कार के लिए उसके यहां हलुआ बना। उसके पड़ौसी के बच्चों को भी इसका पता चला और वे बहुत प्रसन्न हुए। घर जाकर उन्होंने अपनी माता से कहा-आज हम भी हलुआ खाएँगे।

माता ने बच्चों को किसी प्रकार समझा दिया कि शाम के समय हलुआ खिलाएँगे। बच्चे मान गये और शाम होगई। समझाने पर रात भी बीत गई और बच्चे उस बात को भूल

गये। मगर उस व्यक्ति को इतना भी रहम न आया कि पड़ौसी के बच्चों के लिए थोड़ा-सा तो हलुआ भेज दूं।

कुछ दिन बाद उस पड़ौसी के घर भी मेहमान आये। उसके घर भी हलुआ बनाया गया। तब उस आदमी के बच्चे भी हलुए के लिए आग्रह करने लगे। उनकी माता ने जैसे-तैसे करके बच्चों को समझाया और रात्रि व्यतीत हुई। किन्तु प्रातःकाल होते ही वे फिर जिद करने लगे-हम तो हलुआ खाएँगे!

बच्चों की जिद देखकर उनके बाप ने कहा—यह पड़ौसी बड़ा नालायक है। मेरे बच्चे तरसते रहे पर उसे यह न सूझा कि जरा-सा सीरा उनके लिए भी भेज देता! कजूस कहीं का।

मगर उसकी स्त्री समझदार थी। उसने कहा—जब अपने यहां हलुआ बना था, तब पड़ौसी के बच्चे भी तो तरसते रहे थे। उस समय हमने उसके यहां भेज दिया होता तो आज यह अवसर न आता।

इस हाथ दे उस हाथ ले! जो देता है वही पाता है। जो दूसरों को खिलाता है, वही दूसरों से खाने की आशा रख सकता है। कोई यह समझे कि मैं तो किसी को कुछ न खिलाऊँ और दूसरे मुझे खिलाते रहें, तो यह आशा दुराशा मात्र है।

भाइयो! अभी आपको बतलाया जा चुका है कि धर्म के मुख्य चार साधन बतलाये गये हैं, जिनमें दान को पहला स्थान दिया गया है। इन चारों का आराधन करने से ही धर्म की आराधना हो सकती है। तीर्थङ्कर भगवान् भी इन चारों की आराधना

करते हैं। वे दीक्षा लेने से पहले, प्रतिदिन, एक वर्ष तक एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमोहरों का दान करते हैं।

तीर्थङ्कर भगवान् यद्यपि ममत्वहीन होते हैं और जगत् के किसी भी पदार्थ पर, यहां तक कि अपने शरीर पर भी ममता नहीं रखते हैं, तथापि दुनियां के सामने दानधर्म का आदर्श उपस्थित करने के लिए उनकी दानप्रवृत्ति होती है।

एक वर्ष तक दान देने के पश्चात् भगवान् शीलधर्म अर्थात् सर्वविरति चारित्र को स्वीकार करते हैं, जिसमें पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति आदि की मुख्यता होती है।

शीलधर्म अंगीकार करने के पश्चात् तपस्या करते हैं, जिसके विषय में पहले कहा जा चुका है।

भावधर्म सभी धर्मक्रियाओं में ओतप्रोत रहता है। क्योंकि भाव के विना की गई कोई भी क्रिया, चाहे वह कितनी ही उग्र और उच्च क्यों न हो, परिपूर्ण फल प्रदान करने में समर्थ नहीं होती।

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।

भावना समस्त क्रियाओं का प्राण है। भावशून्य क्रियाएँ निष्फल होती हैं, निर्जीव होती हैं। अतएव दानादि सभी धर्मों में भावधर्म सन्निहित होना चाहिए। तथापि उक्त चारों धर्मों का अनुक्रम दिखलाने के लिए कहा जा सकता है कि भगवान् जब शीलधर्म का पालन करते हैं, तभी उन्हें क्षयिक भाव की प्राप्ति होती है।

इस तरह विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि चारों धर्मों का आदि कारण दान है।

'दान' शब्द 'दा' धातु से बना है। उसका अर्थ है देना। किसी भी निमित्त से किसी को कोई वस्तु देना दाना है। श्री-स्थानांगसूत्र में दान दस प्रकार के बतलाये गये हैं यथा—

(१) अनुकम्पादान—अनुकम्पा का अर्थ है-दया, किसी भी प्राणी को दुखी देखकर चित्त में कम्पन हो उठना अनुकम्पा है। वास्तव में दयालु मनुष्य किसी के दुःख को देख नहीं सकता। वह दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख समझता है। जैसे अपने दुःख से पीड़ा का अनुभव होता है उसी प्रकार दयावान् मनुष्य दूसरे का दुःख देखकर भी पीड़ा अनुभव करता है। जब पीड़ा अनुभव करता है तो यह स्वाभाविक ही है कि उसके प्रतीकार के लिए वह यथाशक्ति प्रयत्न करे। वह दुखी जीव को दुख से तड़फते देखकर मूर्त्ति की तरह चुपचाप नहीं बैठा रह सकता। उसके लिए यथोचित उपाय करता है और यथासंभव उसकी पीड़ा को दूर भी करता है।

अनुकम्पा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। संसारी जीवों के दुःख के अनेक कारण होते हैं और उन कारणों के विरोध में किया गया कोई भी शुभ कृत्य अनुकम्पादान में सम्मिलित होता है।

प्राणी मात्र अनुकम्पा का पात्र है। उसके लिए कुपात्र-सुपात्र का भेद नहीं किया जाता। जो भी प्राणी दुखी है, वही अनुकम्पा के लिए पात्र है। भगवान् तीर्थंकर जगत् के जीवों की रक्षा रूपी दया के लिए ही प्रवचन का उपदेश करते हैं। आपको

भी सदैव अनुकम्पाशील होना चाहिए और जीवदया के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

(२) संग्रहदान—भाइयो ! संसार बड़ी विषमता से भरा हुआ है। नाना प्रकार के कर्मों के उदय से जीव नाना प्रकार की परिस्थितियां प्राप्त करते हैं। कोई धन-धान्य शरीर आदि की दृष्टि से सम्पन्न हैं तो कोई पेट भर भोजन भी नहीं पाते। ऐसी स्थिति में शुभ कर्म के उदय से जो सम्पन्न हैं, उनका कर्त्तव्य है कि वे विपन्नों अर्थात् विपत्तिग्रस्त जीवों की सहायता करें। अनाथों की सहायता करना, अपगों की सहायता करना, विधवाओं आदि की सहायता करना, यह सब ऐसे कार्य हैं, जिनके फलस्वरूप यह जीव भविष्य में विपत्तिग्रस्त नहीं होता। तथापि किसी पूर्वजन्म के पाप के उदय से विपत्ति में पड़ जाय तो उससे छुटकारा पाने के लिए किसी को कुछ देना संग्रहदान कहलाता है। यह संग्रह-दान केवल ऐहिक प्रयोजन से दिया जाता है, अतएव धर्म की कोटि में नहीं गिना जाता।

(३) भयदान—राजा, मन्त्री, सेनापति आदि किसी के भय के कारण दिया जाने वाला दान भयदान है।

(४) कारुण्यदान—यहां कारुण्य का अर्थ दया नहीं, शोक है। पुत्र आदि के वियोग के कारण, उसके नाम पर दिया जाने वाला दान।

(५) लज्जादान—लज्जा के कारण दिया जाने वाला दान। मान लीजिए-एक सेठजी बड़े कंजूस हैं और तिजोरी में से एक पैसा निकाल कर भी देना नहीं चाहते। मगर किसी समय वह

बहुत लोगों के बीच में बैठे हैं और उनके समान हैसियत वाले चार आदमी चंदा लेने पहुँच गये। अब सेठजी अगर देने से मुकरते हैं तो शर्मिंदगी उठानी पड़ती है और लोग लिये बिना मानते भी नहीं। तब लोकलाज से वह दान देता है—टीप में कुछ रकम चढ़ा देता है। ऐसा दान लज्जादान है।

(६) गौरवदान—यश, कीर्त्ति, प्रतिष्ठा, प्रशंसा प्राप्त करने के लिए या वाह-वाही लूटने के लिए दिया जाने वाला दान गौरवदान है।

(७) अधर्मदान—पापों का पोषण करने के लिए जो दान दिया जाता है, वह अधर्मदान है। कहा है-

हिंसानृतचौर्योद्यत-पारदर परिग्रहप्रसक्तेभ्यः।
यद्दीयते हि तेषां, तज्जानीयादधर्माय ॥

अर्थात्-हिंसा, असत्य, चोरी, दुराचार और परिग्रह में आसक्त लोगों को दिया जाने वाला दान अधर्मदान है। यह दान पाप की वृद्धि करने वाला है।

(८) धर्मदान—जिन्होंने समस्त आरम्भ-समारम्भ को पाप का कारण जान कर त्याग दिया है, जो षट्काय की हिंसा आदि पापों के त्यागी हैं, संयममय जीवन यापन करते हैं, जो सुवर्ण-मिट्टी को समान भाव से देखते हैं, निरन्तर धर्ममय व्यापारों में निरत रहते हैं, ऐसे उत्तम पात्रों को आहारादि दान देना धर्मदान कहलाता है। सुपात्र को दिया गया दान धर्म की वृद्धि का असाधारण कारण है। यह दान करोड़ों गुणा फल देने वाला है। इस दान के प्रभाव से उत्तम लौकिक और लोकोत्तर फल की प्राप्ति

होती है। शालीभद्र की कथा आपको मालूम होगी। उनको जो असाधारण वैभव की प्राप्ति हुई थी, उसका कारण यह धर्मदान ही था।

(९) करिष्यतिदान—यह आदमी मेरा उपकार करेगा, आगे चलकर इससे मेरा अमुक लाभ होगा, ऐसा भविष्य का विचार करके कुछ देना करिष्यतिदान है।

(१०) कृतदान—भूतकाल में किसी के द्वारा किये गये उपकार के बदले में कुछ देना कृतदान है। यह दान प्रत्युपकारदान भी कहलाता है।

दान के यह दस भेद सामान्य हैं। अर्थात् इनमें सभी प्रकार के दानों का समावेश होता है। असल में दाता सच्चा वही है जो निष्काम भावना से, परिग्रह के त्याग की बुद्धि से, धन की ममता कम करने के लिए, धर्म की वृद्धि या प्रभावना के लिए दान देता है। वही दान प्रशस्त है। इस प्रकार के दान से दाता को ऐसे उत्तम फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन करना भी शक्य नहीं है। ऐसा दान दुर्गति का विनाशक और सब प्रकार के सुखों का जनक है अनेक महापुरुष दान के प्रभाव से ही सद्गति के भागी हुए और संसार-सागर से पार हुए हैं।

प्रशस्त दान का फल प्रशस्त ही होता है फिर भी दान की विधि, देय वस्तु, दाता और पात्र के भेद से फल में भेद हो जाता है। अगर विधिपूर्वक दान दिया जाय तो और भी उत्तम फल प्राप्त होता है। दान की विधि में कई बातों का समावेश होता है, यथा—दान देने योग्य वस्तु हो, पात्र को उच्च स्थान पर

खड़ा किया जाय, उसके चरणों में वन्दना की जाय, भक्ति का उद्रेक हो तथा मन वचन और काय की शुद्धता हो। इस प्रकार से दिया जाने वाला दान विधिपूर्वक दिया दान कहलाता है।

दान देने योग्य वस्तु अपावन नहीं होनी चाहिए, पात्र की प्रकृति के अनुकूल तथा देश और काल के अनुरूप होनी चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हम जो वस्तु दे रहे हैं, वह संयम-धर्म की वृद्धि में सहायक होगी या नहीं? जो सहायक हो उसी का दान देना चाहिए। संयम में बाधक वस्तु का देना प्रशस्त नहीं है।

दातृशुद्धि भी दान के फल में विशेषता उत्पन्न करती है अतएव पूर्वाचार्यों ने दाता के गुणों पर काफी प्रकाश डाला है. कहा है—

ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयित्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे, निरहंकारित्वमिति हि दातृगुणाः॥

अर्थात्—दाता के चित्त में यह आकांक्षा नहीं होनी चाहिए कि इस दान के फलस्वरूप मुझे इहलोक सम्बन्धी सुखों की प्राप्ति हो। साथ ही उसमें क्षमाभाव होना चाहिए। निष्कपटता होनी चाहिए। दाता को ईर्षालु भी नहीं होना चाहिए—ईर्षा करके दान न देकर धर्म भावना से यथा शक्ति दान देना चाहिए। दान देने के पश्चात् विषाद नहीं करना चाहिए। यह नहीं सोचना चाहिए कि हाय, आज अमुक वस्तु दान में दे दी और उसकी मेरे यहां कमी हो गई। प्रत्युत दान देने से पूर्व, दान देते समय और दान देने के बाद भी प्रसन्नता का अनुभव होना

चाहिए और समझना चाहिए कि आज का दिन मेरे लिए धन्य है कि मुझे सुपात्र का संयोग मिला। सुपात्र के योग से मेरी गृहस्थावस्था भी प्रशस्त हो गई।

दाता को दान देकर अहंकार नहीं करना चाहिए। दान के अमृत में अहंकार का विष मिल जाता है तो वह दान को भी बुरा बना देता है। कई लोग कहते हैं-अजी, मेरा सरीखा दानी दूसरा कौन है ? मैं ऐसा दान देता हूं, वैसा दान देता हूँ। मगर उन्हें समझना चाहिए कि अहंकार ने उनके दान को निकृष्ट बना दिया है। वह निर्जरा का कारण बनने के बदले कषायपोषक होने से उलटा कर्म बंध का कारण बन जाता है। जो दाता इन सब गुणों से युक्त होता है, वही उत्तम कहलाता है और वही उत्तम फल पाता है।

पात्र भेद से भी दान के फल में भेद हो जाता है। अविरत सम्यग्दृष्टि, श्रावक और संयमी साधु, यह तीनों दान के लिए सुपात्र गिने गये हैं। जैसा क्षेत्र (भूमि) होगा वैसा ही फल उत्पन्न होता है, अतएव किसान जब बीज बोता है तो पहले क्षेत्र की परीक्षा कर लेता है। दाता को भी पात्र की परीक्षा कर लेनी चाहिए। परन्तु यहां यह नहीं भूलना चाहिए पात्र की परीक्षा धर्म दान के लिए ही की जाती है, अनुकम्पादान के लिए नहीं। पहले बतलाया जा चुका है कि अनुकम्पादान के लिए सभी पात्र हैं।

इस प्रकार सभी तरह से शुद्ध दान देने वाला दाता प्रशंसनीय है और उसका दान भी प्रशंसनीय होता है।

भाइयों ! आज आपको जो सेठाई मिली है, उसका क्या कारण है ? क्या आप पूर्व जन्म में संचित किया हुआ धन साथ में लेते आए थे ? नहीं, मनुष्य जब आता है तो कुछ भी द्रव्य साथ लेकर नहीं आता। खाली हाथ आता है और खाली हाथ ही जाता है। यह सेठाई आपके द्वारा पूर्वजन्म में दिये गये दान का ही फल है सो अगर अगले जन्म में भी सुखी और समृद्ध बनना चाहते हो तो दान धर्म का आचरण करो।

धन-सम्पत्ति साथ ले जाने का कोई उपाय नहीं है, अगर कोई उपाय है भी तो वह दान ही है।

देखो, भिखारी आपके दरवाजे पर आकर आपको चेतावनी देता है कि हमने पूर्वजन्म में कुछ भी दान नहीं किया था अतः दर-दर के भिखारी बने। हमने दान दिया होता तो हम भी आपके समान समृद्धिशाली बनते। आप समृद्धि पाकर दान न दोगे तो आपकी भी यही दशा होगी, जो मेरी है।

सम्पूर्ण ममता का त्याग कर देना ही श्रेयस्कर है। अगर वह नहीं हो सकता तो कम से कम गृहस्थ धर्म का पालन तो करना ही चाहिए।

दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।

हाथों की शोभा दान देने में ही है, कंकण पहनने में नहीं है।

दान से इहलोक और परलोक दोनों प्रशस्त बनते हैं। उससे बहुत लाभ हैं और हानि कुछ भी नहीं है। कहा है—

दानेन भूतानि वशोभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै,
दीनं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

अर्थ—दान में ऐसी वशीकरण शक्ति है कि प्राणी मात्र वश में हो जाते हैं। दान देने से वैर समाप्त हो जाते हैं। दान शत्रु को भी मित्र बना देती हैं और दान के प्रभाव से समस्त आपत्तियां नष्ट हो जाती हैं—सब संकट दूर हो जाते हैं।

दान प्रकारान्तर से चार प्रकार के हैं—(१) औषधदान (२) ज्ञानदान (३) अभयदान और (४) आहारदान।

जो मनुष्य किसी व्याधि से पीड़ित है, उसे औषध का दान करना प्राणदान के समान है। इससे उसे अपूर्व साता का अनुभव होता है। इसी कारण उदारहृदय श्रावक अपनी ओर से बड़े २ औषधालय चलाते हैं अथवा अपने घर पर औषधें रखते हैं और गरीबों को देकर उन्हें साता उपजाते हैं। औषधदान वाले नीरोग शरीर की प्राप्ति होती है।

संसार में जो भी दुःख हैं, उन सब का मूल अज्ञान है। अज्ञान के अंधकार में जीव पथभ्रष्ट हो जाता है और विविध प्रकार के संकटों का पात्र बनता है। ऐसी स्थिति में ज्ञान का प्रकाश ही उसे दुःखों से बचा सकता है। अतएव ज्ञानदान महान् है। एक अज्ञानी को ज्ञानवान् बना देना ऐसा उपकार है जिसकी तुलना नहीं हो सकती। ज्ञान मोक्ष का प्रधान कारण है, अतः

ज्ञान देने का अभिप्राय मोक्ष मार्ग देना भी कहा जा सकता है। ज्ञानदान अनेक प्रकार से हो सकता है। जिसने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से तत्त्वबोध प्राप्त किया है, वह स्वयं दूसरों को बोध दे सकता है। जिसे ऐसा बोध प्राप्त नहीं है, वह शास्त्रों का दान कर सकता है, ज्ञानवर्धक साहित्य की प्रभावना कर सकता है, विद्यालय की स्थापना कर सकता है, असहाय विद्यार्थियों को वृत्ति एवं पुस्तक आदि देकर सहायता कर सकता है। ज्ञानदान अत्यन्त पवित्र दान है। इससे ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, बुद्धि तीक्ष्ण होती है और विवेक की प्राप्ति होती है।

अभयदान भी महत्त्वपूर्ण दान है। स्वयं अपनी ओर से किसी प्राणी को भय न पहुँचाना और किसी कारण से भय में पड़े हुए को निर्भय बनाना, उसके भय को दूर करना अभयदान है। भगवान् ने फर्माया है—

दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं।

दान सभी अच्छे हैं, मगर अभयदान सब में प्रधान है। प्रत्येक मनुष्य को जीवन प्रिय है और मरना अत्यन्त ही अप्रिय है। सर्वस्व का त्याग करके भी मनुष्य प्राणों की रक्षा करना चाहता है। ऐसी स्थिति में किसी मरते प्राणी को बचा लेना कितना भारी पुण्यकृत्य है, यह समझना कठिन नहीं है।

चौथा आहारदान है आपको पता ही है कि यह जीवन आहार पर ही टिका है। आहार प्राण धारण का कारण है। अतएव भूखे-प्यासे को आहार देना भी एक प्रकार से प्राण देना अगर उत्तम पात्र मिल जाय तब तो कहना ही क्या है, न

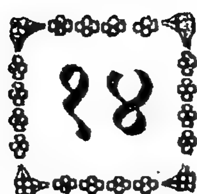
मिले तो दीन-हीन गरीबों को आहार देना भी कम पुण्य का कारण नहीं है।

हैं हाथ दान देने के हित और मुख प्रभु के गुण गाने को।
कानों से प्रभु की कथा सुनो हैं नैन सुपथ दर्शाने को॥

भाइयों ! आपको सुपात्रदान देने के लिए हाथ मिले हैं, पापकार्य करने को नहीं। मुख से ईश्वर की स्तुति करो, कानों से धर्मशास्त्र सुनो अच्छी-अच्छी बातें सुनो। नेत्र सच्चा रास्ता देखने के लिए हैं। तात्पर्य यह है कि पांचों इन्द्रियों को विषयों की ओर न लगाकर धर्मसाधना में प्रवृत्त करना चाहिए। पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त हुई इन्द्रियों को पुण्योपार्जन में एवं धर्मसाधन में प्रयुक्त करना ही बुद्धिमत्ता है।

तो भाइयों ! सच्चा दानशूर वही है जो दाता के सर्व गुणों से युक्त होकर निस्पृह भाव से, इह-परलोक के वैषयिक सुखों की लालसा न रखता हुआ उत्तम दान देता है। ऐसे दानशूर अपना भी कल्याण करते हैं और दूसरों के भी कल्याण के कारण बनते हैं उन्हें परलोक में आनन्द ही आनन्द प्राप्त होता है।

ब्यावर
१०-८-४१



भावना भवनाशिनी



स्तुतिः—

किं शर्वरीषु शशिनाऽह्नि विवस्वता वा,
युष्मन्मुखेन्दुदलितेषु तमःसु नाथ !
निष्पन्न शालिवनशालिनि जीवलोके,
कार्यं कियज्जलधरैर्जलभारनम्रैः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम प्रभो ! आपकी कहां तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ ?

भगवान् ! आपके मुख-चन्द्रमा के द्वारा ही जब अन्धकार नाश हो जाता है, तब हमें चन्द्रमा और सूर्य की आवश्यकता क्या है ? किसान खेत में धान्य बोता है। जब वह धान्य पक

जाता है तब पानी बरसने से क्या लाभ है ? उस समय जल की वृष्टि व्यर्थ है। इसी प्रकार प्रभु के मुख के द्वारा जब अन्धकार विनष्ट हो गया तो आकाश में उदित होने वाले चन्द्रमा और सूर्य की उपयोगिता ही क्या है।

यहां यह सोचने की आवश्यकता है कि भगवान् के मुख-चन्द्र से अन्धकार का नाश किस प्रकार होता है ?

इस प्रश्न पर थोड़ा विचार कर लेना उचित है। अन्धकार दो प्रकार का है द्रव्यांधकार और भावान्धकार। द्रव्य-अन्धकार पुद्गल का पर्याय है और भावान्धकार जीव का विभाव परिणमन है। द्रव्य-अन्धकार सूर्य—चन्द्रमा के उदय से तथा दीपक आदि के प्रकाश से अनायास ही दूर हो जाता है। उसे नष्ट करने के लिए विशेष परिश्रम की आवश्यकता नहीं होती। पौद्गलिक अन्धकार पौद्गलिक प्रकाश से ही दूर हो जाता है।

भावान्धकार अज्ञानरूप है। इस अज्ञान के भी दो रूप हैं-ज्ञान का अभाव और मिथ्याज्ञान। दोनों ही प्रकार का अज्ञान कठिनाई से दूर होता है, मगर मिथ्याज्ञान रूपी अन्धकार तो और भी अधिक कठिनता से हटता है। ज्ञान का अभाव सिर्फ ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से ही दूर हो जाता है, मगर मिथ्या-ज्ञान को नष्ट करने के लिए ज्ञानावरण कर्म के अतिरिक्त मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षयोपशम आदि की भी आवश्यकता होती है। मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का क्षयोपशम होना साधारण बात नहीं है।

भगवान् तीर्थंकर का प्रभाव अपरिमित होता है। वे परम वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होते हैं। उनकी वाणी में अलौकिक

जादू होता है। उस वाणी के श्रवण से भव्यजनों का अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है। और जब पूरी तरह अज्ञान का नाश हो जाता है तो एक अलौकिक प्रकाश आत्मा में उत्पन्न होता है, जिससे आत्मा सर्व भावों को 'जानने-देखने लगती है। उस समय सूर्य और चन्द्रमा के पौद्गलिक प्रकाश की तनिक भी आवश्यकता नहीं रहती।

इस प्रकार के अपरिमित तेज से विभूषित भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

श्रीमत् ठाणांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के पुरुष बतलाये हैं:—

(१) कोई-कोई पुरुष बलवान् (शरीर से हृष्टपुष्ट) होते हैं किन्तु कुलवान् नहीं होते।

(२) कोई-कोई कुलवान् होते हैं परन्तु शरीर से हृष्टपुष्ट नहीं होते।

(३) कोई-कोई बलवान् होते हैं और कुलवान् भी होते हैं।

(४) कोई-कोई न बलवान् होते हैं और न कुलवान् ही होते हैं।

चार प्रकार के पुरुष और हैं:—

(१) कोई कुलवान् भी होते हैं और धनवान् भी होते हैं।

(२) कोई कुलवान् होते हैं, मगर धनवान् नहीं होते।

(३) कोई धनवान् होते हैं मगर कुलवान् नहीं होते।

(४) कोई कुलवान् भी नहीं होते, धनवान् भी नहीं होते।

जगत् के जीवों की परिणति नाना प्रकार की होती है। किस जीव ने भीतर-भीतर कितना उत्थान कर लिया है, यह जान लेना छद्मस्थ की शक्ति से बाहर है। निम्न कहलाने वाले कुलों में उत्पन्न होकर भी कोई-कोई जीव ऐसे लघुकर्मी होते हैं कि उनका आध्यात्मिक विकास बड़े-बड़े कुलीन कहलाने वाले पुरुषों की अपेक्षा भी अत्यधिक होता है। कई कुलीन पुरुष भी उच्च जीवन और पवित्र आचार के धनी देखे जाते हैं, मगर कई जगह इससे विपरीत स्थिति भी देखने में आती है। अतएव कुल का और धार्मिकता आदि सद्गुणों का कोई ऐकान्तिक सम्बन्ध नहीं है। तथापि उत्तम कुल में जन्म लेने वालों को अनायास ही उत्तम वातावरण की प्राप्ति हो जाती है और विकास करने में उन्हें कठिनाई नहीं होती।

जब कोई पुरुष धनवान् भी होता और कुलवान् भी होता है, तो उसके चित्त में प्रायः उदारता आ जाती है। वह प्राप्त द्रव्य से जौंक की तरह चिपटा नहीं रहता, बल्कि उसका सदुपयोग करता है। वह समझता है कि द्रव्य का उपार्जन करने में जो पापाचार किया है, उसका प्रायश्चित्त द्रव्य का सदुपयोग करने से ही हो सकता है। ऐसा समझ कर वह अपने द्रव्य को परोपकार के कार्य में लगाता है। जो दुखी हैं, उन्हें साता पहुंचाता है और इसी में अपनी कमाई की सफलता समझता है।

उसकी उदारता देख कर लोग कहने लगते हैं-पुण्ययोग से जैसी लक्ष्मी मिली है, वैसा ही दिल भी मिला है। कितनी उदारता है।

ब्यावर के सेठ कुन्दनमलजी कोठारी हमारे दर्शन के लिए

उदयपुर आये। जब वे वापिस लौटे तो लोगों से बोले- मैं मुनिराज के दर्शन कर आया परन्तु परमार्थ तो कुछ किया ही नहीं उसी समय उन्होंने तीन हजार रुपये आगरा के अनाथालय को भेज दिये और पांच हजार में, रतलाम में एक भव्य मकान धर्म ध्यान के लिए खरीद दिया।

यह थी सेठजी की उदारता! जिसके हृदय में इस प्रकार की उदारता होती है, लोग उसकी प्रशंसा करते ही हैं। ईर्षालु लोगों की बात न्यारी है, पर गुणग्राही लोग गुणों की अवश्य कद्र करते हैं।

करोड़ों और अरबों की सम्पत्ति यहीं छूट जाती है। साथ वही जाता है जो हाथ से दे दिया जाता है। जन्मान्तर में लक्ष्मी को वशीभूत करने का एक मात्र उपाय यही है कि उसका दान कर दिया जाय। दान देने से लक्ष्मी घटती नहीं, बढ़ती है। वे मूर्ख हैं जो समझते हैं कि दान देने से दरिद्रता आ जायगी। दरिद्रता तो दान न देने से प्राप्त होती है, अतएव जिसे धनवान् बनना हैं, उसे मुक्त हस्त से विवेकपूर्वक दान देना चाहिए। कहा भी है-

दानं दारिद्र्यनाशाय, शीलं दुर्गतिनाशनम्।
तपः कर्मविनाशाय, भावना भवनाशिनी॥

अर्थात्—दान देने से दरिद्रता का नाश होता है, शील का पालन करने से दुर्गति का नाश होता है, तप करने से कर्मों का नाश होता और भावना से जन्म-मरण का नाश होता है।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दरिद्रता को दूर करने के लिए दान ही सर्वोत्तम साधन है। मगर अधिकांश

लोगों की धारणा उलटी और भ्रान्त होती है। वे दरिद्रता से बचने के लिए कंजूसी करते हैं, परन्तु वह कंजूसी और दान न देने की वृत्ति ही उनकी दरिद्रता का कारण होती है।

किसी ने ठीक कहा है—

व्याजे स्याद् द्विगुणं वित्तं, व्यवसाये चतुर्गुणम् ।
क्षेत्रे शतगुणं प्रोक्तं, पात्रेऽनन्तगुणं भवेत् ॥

रकम व्याज पर दे दी जाती है तो दुगुनी हो जाती है और व्यापार में लगा देने से चौगुनी हो जाती है। खेत में बोया हुआ सौ गुना प्राप्त होता है, परन्तु पात्र को दान देने से अनन्त गुणा प्राप्त होता है।

मगर जो भी दान दिया जाय वह भावनापूर्वक ही दिया जाना चाहिए। सद्भावना के साथ दिया हुआ दान ही लाभ-प्रद होता है। सद्भावना धनवानों में ही हो, ऐसी कोई बात नहीं है। कई गरीब भी सद्भावना से सम्पन्न होते हैं और वे अच्छा लाभ कमाते हैं।

एक गांव में एक पटेल रहता था। उसने हमें अपने गांव में चलने का बहुत आग्रह किया और हम भी उसके श्रद्धापूर्ण आग्रह को न टाल सके। हम पहुँचे। व्याख्यान दिया। व्याख्यान में उसने मिश्री की प्रभावना बांटी।

लोगों ने उसके विषय में हमें बतलाया—यह इतना दयालु है कि किसी गाड़ीवान के बैल का पैर इधर से निकलते हुए टूट जाय तो यह उस बैल के बदले में अपना बैल दे देता है।

इस प्रकार की बुद्धि पूर्वोर्जित पुण्य के उदय से उत्पन्न होती है और ऐसी बुद्धि वाला भविष्य के लिए भी पुण्य का उपार्जन करता है।

भाइयों ! ऐश का सारा सामान यहीं रह जाएगा किन्तु मरने के बाद लोग भलाई और बुराई को याद करेंगे।

कई लोग मालदार होने पर भी हृदय से उदार नहीं होते और कई मालदार न होने पर भी अत्यन्त उदार होते हैं।

एक बुढ़िया के द्वार पर एक भिखारिन आई। बुढ़िया में उठने और चलने-फिरने की शक्ति नहीं थी। मगर दरवाजे पर आई भिखारिन को निराश करना और खाली हाथ लौटना उसे सहन नहीं हुआ। उसका चित्त दया से आप्लुत हो गया।

शक्ति न होने पर भी अपने ऊपर जबर्दस्ती करके वह वृद्धा भिखारिन को कुछ देने के लिए उठी, किन्तु चक्कर खाकर गिर गई और मर गई। अपनी उच्च और पवित्र भावना के फलस्वरूप उसने एक धनवान् के घर में जन्म लिया।

भाइयों ! क्रियाएँ भावना की तराजू पर ही तुलती हैं। जिसकी भावना जितनी ऊँची होगी, उसे उतनी ही ऊँची गति प्राप्त होगी।

एक भिखारी किसी आचार्य महाराज का उपदेश सुनकर वैरागी हो गया। उसने दीक्षा धारण करली। सिर्फ चौदह दिन ही वह संयम का पालन कर पाया और काल कर गया। उसका एक राजा के घर राजकुमार के रूप में जन्म हुआ।

राजकुमार धीरे-धीरे बड़ा हो गया। संयोगवश वही

आचार्य, जिनके निकट उसने पूर्व जन्म में दीक्षा ली थी, उसी नगर में जा पहुंचे। राजकुमार की दृष्टि उन पर पड़ी। देखते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। जातिस्मरण से पूर्व भव की सारी बातें जानकर वह आचार्य महाराज के पास पहुँचने को व्यग्र हो उठा। एक-एक पल उसे एक-एक दिन सा प्रतीत होने लगा। वह अविलम्ब आचार्य के पास पहुँचा और हाथ जोड़कर अर्ज करने लगा—गुरुदेव! मैं आपका ही शिष्य हूं। आपने अत्यन्त अनुग्रह करके मुझे दीक्षा प्रदान की थी। मैं चौदह दिन ही साधु-अवस्था में रह सका और शरीर त्यागकर राजकुमार के रूप में उत्पन्न हुआ हूँ। महाराज! आपका अनन्त उपकार है मेरे ऊपर! कहां मैं दर-दर का भिखारी था और कहां आज राजकुमार! आपने ही मेरा उद्धार किया है। आप मेरे तारनहार हैं। मैं आपके प्रति अति कृतज्ञ हूँ।

देखो, शुद्ध भावना का फल कितना ऊँचा होता है। कोई थोड़ी-सी भी धर्म क्रिया करे मगर शुद्ध भाव के साथ करे तो भावहीन बहुत क्रिया से भी उसका फल श्रेष्ठ होता है। कहा है—

स्तोकमप्यनुष्ठानं, भावविशुद्धं हन्ति कर्ममलम्।
लघुरपि सहस्रकिरणस्तिमिरनितम्बं प्रणाशयति॥

भाव से विशुद्ध थोड़ा-सा भी अनुष्ठान कर्ममल को नष्ट कर डालता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, क्योंकि छोटा-सा सूर्य भी लोक में व्याप्त अंधकार के समूह को नष्ट कर देने में समर्थ होता है।

भाइयों! भावना का बल बड़ा ही प्रबल होता है। मरुदेवी माता ने कौन-सी तपस्या की थी? कब संयम का पालन

किया था ? फिर किस शक्ति से उन्हें निर्वाणपद की प्राप्ति हुई ? भावना का ही बल था वह जिसने उन्हें उच्चतम अवस्था में पहुँचा दिया।

तंदुल मत्स्य बेचारा जरा-सी अवगाहना वाला होता है। वह बाह्य रूप से कोई विशेष पाप नहीं करता है, फिर भी उसकी पापमयी भावना उसे नरक में और वह भी सातवें नरक में ले जाती है।

जैनशास्त्रों को ध्यानपूर्वक पढ़ो और गम्भीर विचार करो तो स्पष्ट हो जाएगा कि जैनधर्म में भावशुद्धि की ही मुख्यता है। गुणस्थानों का चढ़ाव-उतार भावों पर ही अवलम्बित है। भाव ही मोक्ष का कारण है। समस्त बाह्य क्रियाएँ भावों को विशुद्ध बनाने के लिए ही उपयोगी होती हैं। जिन क्रियाओं से भावशुद्धि नहीं होती अथवा जो अशुद्ध भाव से की जाती हैं, उनकी कोई कीमत नहीं है। वे नाटक के समान हैं, निष्फल हैं।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के उदाहरण से यह बात आपकी समझ में जल्दी आ जाएगी। बाहरी तौर पर वह एक रूप थे, मगर भावना की बदौलत नरक के अधिकारी होते-होते एकदम केवलज्ञान के स्वामी बन गये। क्या भावना का यह साधारण चमत्कार है ?

एक किसान जंगल से प्रतिदिन लकड़ियां काट कर लाता था और उन्हें बेचकर अपना और अपने परिवार का पेट पालता था। एकबार वह चलता-चलता जगल में बहुत दूर निकल गया। वहां उसने चन्दन के वृक्ष देखे। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उस

दिन उसने चन्दन की ही लकड़ियां काटीं और लाकर घर में रख लीं। उसकी नियत यह थी कि जब इन लकड़ियों का भाव महँगा होगा तब वेचेंगे। वह सोचने लगा कि या तो विदेश से मांग आवे या कोई राजा मरे, तभी लकड़ियां अच्छे दाम पर बिक सकती हैं।

संयोग से उस गांव में राजा आया। गांव के सभी लोग उसके दर्शन करने गये। लकड़ी वाला किसान भी गया और राजा की तरफ एवं क्रूर दृष्टि से देखने लगा। उसकी ओर राजा की दृष्टि गई। राजा को उसकी दृष्टि में स्पष्ट रूप से हिंसा भरी हुई नज़र आई दूसरे दिन मंत्री को बुलाकर राजा ने आदेश दिया—अमुक गांव के उस लकड़हारे को फांसी पर लटका दो।

राजा का आदेश पाकर मंत्री उस गांव में पहुँचा। उसने गांव वालों को इकट्ठा करके सबसे तकलीफात पूछी। सबने कहा—हमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं है। मगर उस लकड़ी वाले ने कहा—हुजूर, मैं कई दिनों से दुखी हूँ। यद्यपि मेरे घर में बहुत-सी चन्दन की लकड़ियां भरी हैं, परन्तु ठीक भाव नहीं आता। अतएव मैं भूखा मरता हूँ।

मंत्री ने पूछा—क्या तुम कल राजा साहब की ओर क्रूर दृष्टि से देख रहे थे?

किसान सकपका कर बोला—जी हां, देखा तो था।

मंत्री—क्यों?

किसान—इन्हीं लकड़ियों के सदुपयोग के लिए। सोचता था कि राजा मरे तो लकड़ियों का भाव चढ़े।

मंत्री बड़ा चतुर था। वह समझ गया कि इसकी भावना की खराबी ने ही राजा की भावना को खराब किया है। भावना का प्रभाव भावना पर पड़ा है।

मन्त्री फिर विचार करने लगा—जैसे किसान की राजा के प्रति दुर्भावना होने से राजा की भावना किसान का वध करने की हुई है उसी प्रकार किसान की राजा के प्रति सद्भावना हो तो राजा की भी इसके प्रति सद्भावना ही होगी। अतः किसान का वध करने की अपेक्षा उसकी भावना को बदलना ही उचित है। कम से कम एक बार ऐसा प्रयोग करके तो देखना ही चाहिए।

यह विचार कर मन्त्री ने किसान से कहा—तुम लकड़ियां बेच दो, अच्छे दाम मिल जाएँगे।

मन्त्री ने उचित से भी अधिक मूल्य देकर चन्दन की सब लकड़ियां खरीद लीं। किसान को अत्यन्त लाभ हुआ और उसकी पूर्वभावना एकदम बदल गई।

कुछ दिन बाद राजा पुनः उस गांव में आया। लोगों को देख कर उसे उस किसान का स्मरण हुआ। साथ ही अकस्मात् उसके प्रति राजा के हृदय में एक प्रकार की सहानुभूतिपूर्ण भावना उत्पन्न हुई। मन्त्री से पूछने पर उसे पता चला कि वह फांसी पर नहीं लटकाया है। यह सुन कर राजा को अतीव सन्तोष हुआ। उसने कहा—बहुत अच्छा हुआ। निरपराध गरीब के प्राण बच गये।

तब मन्त्री ने उसके सम्बन्ध में पूरा वृत्तान्त बतलाया।

राजा ने कहा—देखो, मलीन भावना और शुद्ध भावना का हृदय पर कैसा जादू का सा असर पड़ता है।

यह एक उदाहरण है। इससे आपको क्या अभिप्राय ग्रहण करना है? इसका अभिप्राय यह है कि अगर आपकी यह इच्छा है कि दूसरे लोग आपके प्रति सद्भावना रक्खें और प्रदर्शित करें तो आपको भी दूसरों के प्रति सद्भावना रखनी चाहिए और यथासमय उसका प्रदर्शन भी करना चाहिए। याद रखिए, आपकी भावना का प्रतिबिम्ब दूसरों पर पड़ेगा और अवश्य ही पड़ेगा। आप चाहें कि हम दूसरों के प्रति ईर्षा-द्वेष की भावना रक्खें और दूसरे हमारे प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करें, तो यह कदापि होने वाला नहीं है। किसी पहाड़ की तलहटी में जाकर आप जैसी आवाज निकालेंगे, वैसी ही प्रतिध्वनि आपको सुनने को मिलेगी।

जो बात भावना के सम्बन्ध में है, वही व्यवहार के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए। अगर आप दूसरों के प्रति सद्व्यवहार करेंगे तो दूसरों से भी आपको सद्व्यवहार ही मिलेगा। आपने दुर्व्यवहार किया तो आशा छोड़िए कि दूसरे आपके प्रति सद्व्यवहार करें।

दानधर्म का सेवन करने में द्रव्य की ममता त्यागनी पड़ती है, शील का पालन करने में इन्द्रियों को वशीभूत करना पड़ता है, तपश्चरण करने के लिए इच्छाओं का निरोध करना आवश्यक होता है, परन्तु भाव को विशुद्ध रखने में न धन त्यागना पड़ता है और न कोई कठिनाई उठाना पड़ता है और यही सर्वोत्तम धर्म है फिर क्यों भावना की विशुद्धि से वंचित रहते हो?

भाइयो ! निरन्तर अपनी भावना को शुद्ध बनाये रखने का प्रयत्न करो। जब कभी चित्त में किसी प्रकार की मलीनता उत्पन्न हो, तब उसके लिए पश्चात्ताप प्रकट करो। मन को दण्ड दो। निश्चय करो कि इस प्रकार की गलती फिर कभी नहीं करूँगा। अपने चित्त की चौकसी करते रहो और देखते रहो कि कभी मलीन भावना उसमें प्रवेश न कर सके। इस प्रकार निरन्तर सावधान और सतर्क रहने से आपका चित्त मलीन भावना से रहित हो जाएगा और उसमें शुभ ही शुभ भावनाएँ उत्पन्न होंगी। ऐसा होने पर आपको परम लाभ होगा। आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर
१२-८-४१ }



लेश्या विशुद्धि



स्तुतिः—

नित्योदयं दलितमोहमहान्धकारम्,
गम्यं न राहुवदनस्य न वारिदानाम्।
विभ्राजते तव मुखाब्जमनल्पकान्ति,
विद्योतयज्जगदपूर्वशशांकविम्बम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम प्रभो! आपकी कहां तक स्तुति की जाय? प्रभो! आपके गुण कहां तक गाये जाएँ?

भगवन्! आपका परम सौम्य और वीतरागता की अनोखी छवि से मण्डित मुख-कमल को किस वस्तु की उपमा दी जाय? चन्द्रमा से अधिक सौम्य कोई वस्तु इस संसार में नहीं है। अत-

एव चन्द्रमा की उपमा ही दी जाती है। आवश्यकसूत्र में कहा भी है—

चंदेसु निम्मलयरा।

अर्थात्—आप चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल हो।

मगर विचार करने पर यह उपमा भी ठीक नहीं जँचती। चन्द्रमा का उदय नित्य नहीं होता—कभी होता है और कभी नहीं भी होता। वह तिथियों के अनुसार घटता बढ़ता भी रहता है। मगर आपका मुख-मण्डल कोटि-कोटि चन्द्रमाओं से भी अधिक शीतल और सौम्य होने के साथ सदैव एक-सा प्रकाशमान रहता है।

चन्द्रमा पौद्गलिक अंधकार को ही नष्ट कर सकता है। उसमें मोह रूपी अंधकार को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं है। किन्तु आपका मुखमण्डल अन्तरतर में घर किये रहे हुए मोहान्धकार को नष्ट करता है, क्योंकि आपके पवित्र मुखारविन्द के अवलोकन से ही कई भव्यजीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है और उनका मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है।

इन्द्रभूति गौतम अपने युग के ब्राह्मण विद्वानों में मूर्धन्य माने जाते थे, मगर मोहान्धकार से बाहर नहीं निकलते थे। वे अपनी विद्वत्ता के अभिमान में चूर होकर भगवान् महावीर से वाद विवाद करने और भगवान् को पराजित करने के लिए पांच सौ शिष्यों की सेना साथ लेकर चले। मगर वाद विवाद का अवसर ही नहीं आया। भगवान् की अनूठी छवि देखकर और भगवान् के द्वारा अपना नाम-गोत्र सुनते ही नम्र बन गये।

भगवान् के शिष्य बने और समस्त शिष्यों में बड़े कहलाए। फिर तो जब तक उन्हें केवलज्ञान नहीं हो गया, भगवान् के प्रति उनकी असाधारण ममता, श्रद्धा और भक्ति बनी रही ऐसा प्रभावशाली होता है भगवान् तीर्थंकर का मुखमण्डल! यह विशेषता चन्द्रमा में नहीं हो सकती।

चन्द्रमा सम्पूर्ण मंडल के साथ उदित हुआ हो और कदाचित् उसके साथ भगवान् के मुखमंडल की उपमा दी जाय तो भी ठीक नहीं बैठती, क्योंकि कभी तो उसे राहु अपनी परछाई से आच्छादित कर लेता है और कभी सघन मेघपटल आकर उसके प्रकाश को रोक देते हैं।

कदाचित् सम्पूर्ण मण्डल वाला चन्द्रमा हो, राहु और मेघपटल भी न हों और चन्द्रमा का पूर्ण स्वाभाविक प्रकाश सर्वत्र फैल रहा हो, तो भी वह जगत् के थोड़े से विभाग को ही प्रकाशित कर सकता है। मगर भगवान् तो समग्र जगत् में प्रकाश फैलाते हैं।

इस प्रकार चन्द्रमा के साथ भी भगवान् के मुखकमल की उपमा घटित नहीं होती। अतएव विवश होकर यही कहना पड़ता है कि भगवान् का मुख भगवान् के मुख के ही समान है।

ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा सर्वप्रथम नमस्कार हो।

श्रीठाणांगसूत्र में भगवान् ने चार प्रकार के पुरुष बतलाये हैं। यथा—

(१) कोई पुरुष भावों से शुद्ध होते हैं और कुलीन भी होते हैं।

(२) कोई भावों से शुद्ध होते हैं, पर कुलीन नहीं होते।

(३) कोई कुलीन होते हैं परन्तु भावों से शुद्ध नहीं होते।

(४) कोई कुलीन भी नहीं होते और भावों से शुद्ध नहीं होते।

स्थानांगसूत्र में इस प्रकार की अनेक चौभंगियां बतलाई गई हैं। इन सबका आशय जगत् के जीवों की नाना प्रकार की परिणति को प्रदर्शित करना है।

यों सभी जीव समान रूप से शुद्ध हैं। उनके स्वरूप में किसी भी प्रकार की विलक्षणता नहीं है। एक जीव के जो स्वाभाविक गुण हैं, वही प्रत्येक जीव के हैं। उनमें तरतमता भी नहीं है। किन्तु कर्मोदय के कारण उनमें विभिन्नता उत्पन्न हो जाती है। इस विभिन्नता को समझाना ही इन चौभंगियों का प्रयोजन है।

शुद्ध नय की दृष्टि से जीव का कुल के साथ कोई संबंध नहीं। जीव न जन्म लेता है, न मरता है और न उच्च-नीच व्यवहार का पात्र ही बनता है। मगर कर्मोदय के वशीभूत होकर वह अपने स्वरूप से च्युत हो रहा है। अपने शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति उसे नहीं हो रही है।

जीवों को उनके अध्यवसाय के अनुसार ही कर्मों का बन्ध होता है। अध्यवसाय सबके भिन्न-भिन्न होते हैं अतएव कर्मबंध में भी भिन्नता होती है। अध्यवसायों का भेद समझाने के लिए शास्त्रों में लेश्याओं का स्वरूप बहुत विस्तार के साथ बतलाया गया है।

लेश्या मूल रूप से दो प्रकार की है द्रव्य लेश्या और भावलेश्या। कषाय से रंगे हुए योगद्रव्यों को द्रव्यलेश्या कहते हैं और उनके निमित्त से उत्पन्न होने वाली भावनाओं को भावलेश्या। भावलेश्या अन्तमुहूर्त्त में पलट जाती है, क्योंकि छद्मस्थ जीव का एक अध्यवसाय अन्तमुहूर्त्त से अधिक नहीं ठहरता है। जैसे ही अध्यवसाय पलटता है कि लेश्या भी पलट जाती है। लेश्या का काम कषायों को भड़काना है। इनके आधार पर ही जीवों के विचार जुदे-जुदे होते हैं।

द्रव्यलेश्या और भावलेश्या—दोनों के छह-छह भेद हैं—(१) कृष्णलेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोतलेश्या (४) तेजोलेश्या (५) पद्मलेश्या और (६) शुक्ललेश्या।

कृष्णलेश्या का वर्ण श्याम, नील लेश्या का नीला, कापोत का आसमानी, तेज का लाल, पद्म का पीत और शुक्ललेश्या का श्वेत वर्ण माना गया है।

इनमें से प्रारम्भ की तीन लेश्याएँ अप्रशस्त है, अधर्मलेश्याएँ कहलाती हैं और तीन अन्तिम प्रशस्त मानी गई हैं। अशुभ लेश्याओं का वर्ण, रस, गंध, स्पर्श भी अशुभ होता है और शुभ लेश्याओं का वर्णादि सभी प्रशस्त होता है। श्री उत्तराध्ययनसूत्र में तथा पन्नवणासूत्र में लेश्याओं का विस्तृत विवरण दिया गया है। मुमुक्षु जीवों को वह वर्णन अवश्य पढ़ना या सुनना चाहिए। लेश्याओं का विषय आध्यात्मिक है आत्मशुद्धि के साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। जो लेश्याओं के स्वरूप को ठीक तरह से समझेगा वही अपने अध्यवसायों का विश्लेषण कर सकेगा और बुरे विचारों से बचकर अच्छे विचारों में रमण कर सकेगा।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र में बतलाया गया है—

जीमूयनिद्धसंकासा, गवलरिट्ठगसन्निभा ।
खंजांजणनयणनिभा, किण्हलेस्सा उ वण्णओ ॥

नीलाशोय संकासा, चासपिच्छासमप्पभा ।
वेरूलियनिद्धसंकासा, नीललेस्सा उ वण्णओ ॥

अयसीपुप्फसंकासा, कोइलच्छसन्निभा ।
पारेवयगीवनिभा, काऊलेस्सा उ वण्णओ ॥

यहां तीन अशुभ लेश्याओं का वर्ण बतलाया गया है। कृष्ण लेश्या का वर्ण सघन बादलों के समान, भैंस के सींग के समान, अरिष्ट नामक रत्न के समान, खंजन काजल और नेत्र के समान काला है।

नील लेश्या का वर्णन नीले अशोक के समान, चास पक्षी के पंखों के समान और वैडूर्यमणि के समान है।

कापोत लेश्या अलसी के फूल, कोयल के पंख और कबूतर की ग्रीवा के समान वर्ण वाली है।

इससे आगे बतलाया गया है कि तेजोलेश्या का वर्ण हिंगलुधातु, मध्याह्न के सूर्य, तोते की चोंच और प्रदीप के समान है।

पद्म लेश्या हड़ताल के वर्ण की है। हल्दी के टुकड़े जैसी और सन के फूलों के समान है।

शुक्ल लेश्या शंख के समान, कुन्द के फूल के समान,

दूध के समान, चांदी के समान और हार के समान धवल वर्ण वाली है।

इस का वर्णन करते हुए शास्त्रकार फर्माते हैं कि कृष्ण लेश्या का रस कटुक तूंबे, नीम और कड़वी रोहिणी की अपेक्षा भी अनन्तगुणा कटुक है, नील लेश्या का रस पीपल आदि के रस से अनन्तगुणा, कापोत लेश्या का रस कपित्थ आदि के रस से अनन्तगुणा कषायला है। तेजो लेश्या का रस पके आम और कपित्थ आदि से अनन्तगुणा मधुर है। पद्म लेश्या का वारुणी एवं आसवों के समान या मधु आदि के रस के समान और उनसे भी अनन्तगुणा मधुर है। शुक्ल लेश्या खजूर, किसमिस, दूध और खांड आदि के समान या इससे भी अनन्तगुणा मधुर रस वाली है।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं की गंध मृतक गाय, मरे कुत्ते या मरे सांप की दुर्गंध से भी अनन्तगुणित है। और प्रशस्त लेश्याओं की गंध सुरभि पुष्पों के समान तथा पीसे जाते हुए सुगन्धित द्रव्यों के समान और उनसे भी अनन्तगुणा उत्तम है।

इसी प्रकार अशप्रस्त लेश्याओं का स्पर्श खराब और प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श उत्तम है।

छहों लेश्याओं का स्वरूप बतलाते हुए कहा है-

(१) कृष्ण लेश्या वाला प्राणी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पापों में प्रवृत्त रहता है, मन वचन और काय पर तनिक भी नियंत्रण नहीं रखता, षट्काय के जीवों की विराधना करता है, महारंभ और महापरिग्रह में प्रवृत्त होता है, क्षुद्र, साहसी, क्रूर, अजितेन्द्रिय होता है।

(२) नील लेश्या वाले जीव के परिणामों में ईर्षा द्वेष, क्रोध, मायाचार, निर्लज्जता, लोलुपता, धूर्त्तता, प्रमत्तता, रसलोलुपता, आरामतलबी, आरंभ से अविरति, क्षुद्रता, साहसिकता आदि दोष होते हैं।

(३) कापोत लेश्या वाला जीव वक्र होता है उसके प्रत्येक व्यवहार में वक्रता भरी होती है। वह मायाचार का सेवन करता है, सरलता उसमें नहीं होती। वह मिथ्यादृष्टि और अनार्य होता है।

(४) तेजो लेश्या वाला जीव नम्र, चपलतारहित, अमायावी, कुतूहलहीन, विनीत, इन्द्रियों को दमन करने वाला, प्रशस्त योग वाला, तपस्या करने वाला, धर्मप्रिय, दृढ़धर्मी, पाप से डरता रहने वाला तथा हितकर कार्यों में प्रवृत्ति करने वाला होता है।

(५) पद्म लेश्या वाले जीव के क्रोध, मान माया और लोभ बहुत हल्के होते हैं, उसका चित्त प्रशान्त होता है, वह इन्द्रियों को दमन करने वाला होता है, शुभ योगों वाला और तपःशील होता है, परिमित भाषण करने वाला, शान्त प्रकृति वाला और जितेन्द्रिय होता है।

(६) शुक्ल लेश्या वाला प्राणी आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्यागी, धर्मध्यान और शुक्लध्यान में निरत रहने वाला, प्रसन्नचित्त, दमनशील, समितियों और गुप्तियों से विभूषित, सराग अथवा वीतराग होने पर भी उपशान्त तथा जितेन्द्रिय, होता है।

संसार में अनन्तानन्त प्राणी हैं और उन सब के परिणामों में प्रायः कुछ न कुछ भिन्नता होती ही है। तथापि यहां

स्थूल विभाग करके उन सब का समावेश छह भेदों में किया गया है। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक लेश्या के अध्यवसायस्थान विभिन्न प्रकार के होते हैं। कहा भी है—

असंखिज्जाणोसप्पिणीण, उस्सप्पिणीण जे समया।
संखाईया लोगा, लेसाण हवन्ति ठाणाइं ॥

—उत्तराध्ययन, ३४, ३३

इन लेश्याओं में से प्रत्येक लेश्या के परिणामों की तर-तमता के आधार से विचार करें तो असंख्यात प्रकार के परिणाम होते हैं। असंख्यात उत्सर्पिणियों और अवसर्पिणियों के जितने समय होते हैं, उतने इन लेश्याओं के अवान्तर भेद हैं। एक लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश होते हैं। ऐसे ऐसे असंख्यात लोकाकाशो के जितने प्रदेशों की राशि होगी, उतनी ही एक-एक लेश्या के अध्यवसायों की राशि है।

शास्त्रों में लेश्याओं की स्थिति का भी वर्णन किया गया है। कृष्ण लेश्या की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम से कुछ अधिक है। नील लेश्या की कुछ अधिक दस सागरोपम की, कापोत लेश्या की साधिक तीन सागरोपम की, तेजो लेश्या की साधिक दो सागरोपम की, पद्म लेश्या की दस सागरोपम की और शुक्ल लेश्या की कुछ अधिक तेतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है। सब की जघन्य स्थिति अन्तुमुहूर्त्त की है।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, एक-एक लेश्या के अध्य-वसाय असंख्यात-असंख्यात हैं। उन सब को स्पष्टरूप से बत-लाना संभव नहीं है। फिर भी लेश्याओं का स्वरूप समझ में

आ जाए और उनके परिणामों की तरतमता की एक हल्की-सी झलक मिल जाय, इस प्रयोजन से शास्त्रकारों ने एक उदाहरण दिया है।

छह मनुष्य आम खाने के विचार से किसी बगीचे में गये। आम का फलों से लदा हुआ वृक्ष देखकर उनमें इस प्रकार संलाप होने लगा—

पहले ने कहा—इस पेड़ को धड़ से काट कर गिरा लें और फिर मनचाहे फल तोड़-तोड़ कर खाएँगे।

दूसरा बोला—आम में हजारों फल हैं और हम लोग छह ही हैं। सब फल नहीं खा सकेंगे। अतएव सारे वृक्ष को काटने से क्या लाभ ? एक मोटी डाली काट लें तो हमारा काम चल जाएगा।

तीसरा—मोटी डाली काटने का भी कष्ट क्यों किया जाय ? एक छोटी डाली के फल ही हमारे लिए पर्याप्त होंगे

चौथा—मेरी समझ में नहीं आया कि डाली काटने से क्या लाभ है ? हमें डाली तो खाना नहीं, फल खाने हैं। फल गुच्छों में हैं। गुच्छे तोड़ लेने से ही हमारा काम चल सकता है। डाली काट कर वृक्ष की शोभा बिगाड़ना ठीक नहीं।

पांचवां—भाई साहब, गुच्छों में कई फल कच्चे होंगे, कई पके होंगे। आप लोग कच्चे फल तो खाएँगे नहीं, फिर उनको तोड़ कर व्यर्थ नष्ट करने का क्या प्रयोजन ? पके फलों को तोड़ लें। कच्चे फल जब पकेंगे तो दूसरों के काम आ जाएँगे।

छठा—बात बिलकुल ठीक है। हमें पके फलों से ही प्रयोजन है। मगर पके फलों को वृक्ष स्वयं नीचे गिरा देता है। वह उन्हें अपने साथ चिपकाए नहीं रहता। अतएव जो पके फल नीचे गिरे हुए हैं, उन्हीं को बीन-बीन कर हमें अपना काम चला लेना चाहिए।

यह है विभिन्न लेश्याओं वाले जीवों की भावनाओं का नमूना। इससे आपको खयाल आ जाएगा कि भावना-भावना में कितना अन्तर होता है। पहला मनुष्य अर्थात् कृष्ण लेश्या वाला पुरुष भी आम खाना चाहता है और छठा अर्थात् शुक्ल लेश्या वाला भी। किन्तु दोनों में से एक कितनी बड़ी हिंसा के लिए उद्यत है और दूसरा कितने अल्पारंभ से अथवा बिना आरंभ के अपना काम चला लेता है। इससे आपको यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जीवननिर्वाह के लिए महारंभ न करें। जो जीवन अल्पारंभ से भी निभ सकता है, उसके लिए घोर आरंभ करके पापकर्म उपार्जन करना विवेकवान् पुरुषों का कर्त्तव्य नहीं है। जीवननिर्वाह के नाम पर अधिकांश लोग निरर्थक पापकर्म करते हैं। अगर निरर्थक पापों से बचें तो वे अपनी आत्मा को भारी होने से बचा सकते हैं और भविष्य में दुर्गति से भी बच सकते हैं।

भाइयो! जिस पाप का सेवन न करने से आपको कोई भी हानि नहीं होती, आपके सभी व्यवहार निराबाध रूप से चल सकते हैं, उस पाप का बोझा क्यों अपने माथे लेते हो? दूसरों का हित कर सको तो करो। न कर सको तो कम से कम अपनी आत्मा का ही हित करो। ऐसा करने से बहुत-से पापों से बच जाओगे।

कृष्ण नील और कापोत, यह तीन अधर्म लेश्याएँ जीव को दुर्गति में ले जाती हैं और अन्तिम तीन धर्मलेश्याएँ सद्गति का कारण हैं। यथा—

किण्हा नीला काऊ, तिन्नि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि विजीवो, दुग्गइं उववज्जई॥
तेऊ पम्हा सुक्का, तिन्नि वि एयाओ धम्मलेसाओ।
एयाहि तिहि वि जीवो, सुग्गइं उववज्जई॥

लेश्याओं के इस विवेचन का प्रयोजन यही है कि लोग अशुभ लेश्याओं से बचें और शुभ लेश्याओं में विचरण करें, जिससे अकल्याण से बच सकें।

भाइयों! संसारी जीव की हालत वैसी ही हो रही है जैसी ऊँट की मींगणियों पर शक्कर की चासनी चढ़ा देने से होती है। यह जीव अज्ञानावस्था में मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है। किन्तु कभी महात्माओं की संगति करने से थोड़ी धर्म रूपी चासनी उस पर चढ़ जाती है। मगर वह स्थायी नहीं होती है, तथापि उस चासनी के कारण यह जीव देवगति प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है। जब वह चासनी उतरती है तो फिर गिरता है और पृथ्वी आदि किसी भी काय में जन्म ग्रहण करता है।

इस प्रकार ऊपर-ऊपर से शक्कर की चासनी चढ़ा लेने पर भी क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? आखिर तो कलई खुल जाती है और मिट्टी पलीद हुए बिना नहीं रहती।

स्थायी महत्त्व प्राप्त करना है तो सच्ची श्रद्धा प्राप्त करो। एक मात्र वीतराग देव पर अटल-अचल विश्वास रक्खो। अन्य देवी-देवताओं के आगे माथा मत टेकते फिरो। जो स्वयं रागी, द्वेषी और मोही है, वह पूर्ण रूप से सुखी नहीं है और जो स्वयं सुखी नहीं है वह दूसरों को किस प्रकार सुखी बना सकता है ? राग द्वेष और मोह दुःख रूप हैं। जो देव इन दुर्भावों से ग्रस्त हैं, उनकी उपासना से आपका कल्याण नहीं हो सकता।

कई लोगों की बुद्धि तो इतनी चंचल होती है कि वे स्वार्थ की प्रबल प्रेरणा से प्रेरित होकर मुर्दों को पीर-पैगम्बर आदि की–कब्रों को ही पूजने लगते हैं ! यह कितनी हीन स्थिति है। अज्ञानी जीवों को पता ही नहीं होता कि कब्र हमारी आशा पूरी नहीं कर सकती।

जिसे सम्यक् श्रद्धा प्राप्त हो गई है, उसकी बुद्धि में स्थिरता आ जाती है। वह लोभ, भय, आशा या किसी भी अन्य निमित्त से तीन लोक के नाथ वीतराग भगवान् को छोड़कर दूसरों की शरण में नहीं जाता। वह जानता है कि जो स्वयमेव अशरण है, वह दूसरों को किस प्रकार शरण दे सकता है ? कैसा भी संकट क्यों न उपस्थित हो, उसकी श्रद्धा अविचल रहेगी। अरणक श्रावक को भूल गये क्या ? देवता ने उसे प्राणों का भय दिखलाया था। उसके जहाज को उलट देने की धमकी दी थी। मगर वीतराग पर पक्का भरोसा रखने वाला वह धर्मवीर पुरुष तनिक भी चलायमान न हुआ। उसने सोचा तो यही सोचा कि अगर मेरी और मेरे जहाज की रक्षा होनी है तो धर्म से ही होगी। अधर्म से किसी की रक्षा नहीं हो सकती। यह सोचकर वह

धर्मपथ पर अचल रहा। धर्म से उसका उद्धार हुआ। सब संकट उसी प्रकार दूर हो गए जिस प्रकार तेज तूफान से बादल नष्ट हो जाते हैं।

कौनसी आपत्ति है जो धर्म से दूर न हो सके? कौन सा संकट है जो धर्मश्रद्धा से टल न सके? मगर श्रद्धा हो तब ना।

आज अधिकांश लोग श्रद्धाविहीन हैं। उनके मस्तिष्क में सदैव चंचलता रहती है। यही कारण है कि वे शान्ति, निराकुलता और सुख का अनुभव नहीं कर पाते।

जिस जीव ने जैसे कर्मों का बन्ध किया है, उसे वैसा फल भोगना पड़ेगा। कोई पीर-पैगम्बर अथवा देवी-देवता मनुष्य को कर्मफल भोग से नहीं बचा सकता। हां शुद्ध भाव से वीतराग देव की उपासना करने से तीव्र कर्मानुभाव को अवश्य मंद बनाया जा सकता है। इसलिए अपनी भावना को शुद्ध बनाने का प्रयत्न करो और वीतराग देव पर तथा उनके द्वारा प्ररूपित दयामय धर्म पर अटल विश्वास रक्खो।

देखो, कृष्णलेश्या वाले जीव के विचार बड़े कलुषित एवं मलीन होते हैं। वह हमेशा दूसरे की जान लेने की ही सोचता रहता है इसका नतीजा यह होता है कि कृष्णलेश्या की स्थिति में अगर बंध पड़ जाय तो छठे या सातवें नरक तक भी जाना पड़ता है।

नील लेश्या वाले के विचार धूर्त्तता और ईर्षा करने के ही बने रहते हैं। नील लेश्या की अवस्था में आयु का बंध हो जाय तो जीव को तिर्यंचयोनि में जन्म लेना पड़ता है।

कापोत लेश्या वाला दूसरों को ठगने और धोखा देने का ही विचार किया करता है। मगर यह सारे विचार आत्मा के पतन के ही कारण होते हैं।

ऊँचे बनकर भी यदि बोलने का भान न रक्खा, ठगाई और धूर्त्तता की ही भाषा का प्रयोग किया तो वह ऊँचाई किस काम आई? ऐसी उच्चता किस काम की है जो अधःपतन का कारण बनती है? याद रक्खो, इस जबान की बदौलत बहुत-सी बुराइयां पैदा हो सकती हैं और अच्छाइयां भी हो सकती हैं। मनुष्य को जिह्वा रूप एक अच्छा साधन मिला है। इस साधन का सदुपयोग करने वाला अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है और दुरुपयोग करने वाला अकल्याण कर लेता है।

याद रक्खो, तुम्हारा भविष्य तुम्हारे वचनों और विचारों पर निर्भर है। जैसे विचार करोगे वैसा ही कर्मबंध होगा और जैसा कर्मबंध होगा वैसा ही आगामी भव प्राप्त होगा यह एक ध्रुव सत्य है।

एक सेठ की दो पत्नियां थीं। सेठ पहले वाली स्त्री से खूब काम लेता था और पिछली से खूब प्रेम करता था। एकबार सेठ को बीमारी ने घर दबाया। वह बहुत बीमार हो गया और इतना बीमार कि हजारों रुपये खर्च करने पर भी ठीक न हुआ। मरने के दिन नजदीक आ गये। इस बीमारी की हालत में भी सेठ का छोटी सेठानी पर बेहद प्रेम रहा। उससे कभी ग्लास भर पानी लाने तक को न कहा।

एक दिन बड़ी सेठानी किसी काम में व्यस्त थी। सेठ को दवा देने का समय हो चुका था अतएव पति-भक्ति के नाते छोटी

सेठानी दवा लेने के लिए कमरे में गई। आते समय खयाल न रहने के कारण उसके सिर में चौखट की ऐसी चोट लगी कि सिर में घाव हो गया और वह बेहोश होकर गिर पड़ी।

सेठ को पता चला कि छोटी सेठानी के सिर में चोट लग गई है। यह सुनते ही उसे बड़ा सदमा पहुँचा। कमजोरी की हालत तो थी ही, सेठ उस आघात को सहन न कर सका। उसके प्राणपखेरू उड़ गये। मगर छोटी सेठानी के प्रति अत्याशक्ति होने के कारण सेठ का जीव, सेठानी के सिर में लगे घाव में कीड़े के रूप में आकर जन्मा।

इधर सेठ के शव का दाहसंस्कार किया गया और सेठानी का उपचार चालू हुआ। थोड़े ही दिनों में सेठानी के सिर में वह कीड़ा बड़ा होकर किलबिलाने लगा। इससे सेठानी को बहुत पीड़ा होने लगी। जब पीड़ा असह्य हो गई तो उस कीड़े को मरवाने का उपाय किया गया।

भाइयों ! कितनी ममता थी सेठ की अपनी छोटी सेठानी पर। उसके दुःख का समाचार सुनते ही सेठ को इतना दुःख हुआ कि वह जीवित न रह सका। मगर अन्त में क्या हालत हुई ? सेठ का जीव वह कीड़ा दवा से मरवा दिया गया।

संसार कितना स्वार्थसाधु है। यहां सब अपने अपने सुख के सगे हैं। वास्तव में कोई किसी का नहीं है। स्वार्थ में थोड़ी-सी बाधा खड़ी हुई कि दुश्मन बन जाते हैं। आये दिन समाचार सुनने-पढ़ने को मिलते हैं कि भाई ने भाई की जान ले ली, पत्नी ने पति का या पति ने पत्नी का वध कर दिया, बाप ने बेटे को

दुनिया की झूठी प्रीति ।
है खजाना जहाँ तक आशा रे,
दुनिया की झूठी प्रीति ॥टेर॥

ये मात-पिता सुत भ्राता,
मतलब का है सब नाता ।
बिन मतलब दूरा जाता रे ॥१॥

लाखों का माल कमाया,
पापों से घड़ा भराया ।
तैने सुन्दर महल चुनाया रे ॥२॥

उमदा पोशाक सजावे,
तू इत्तर फुलेल लगावे ।
सब तेरा हुक्म उठावे रे ॥३॥

कानों में मोटा मोती,
तेरी झलमल दीपै ज्योति ।
कई तिरिया मोहित होती रे ॥४॥

फूलों की सेज बिछावे,
पदमन से प्रीत लगावे।
वा पूरो प्रेम जनावे रे ॥५॥

जब अन्त काल आ जावे,
भूमि पै तुझे सुलावे।
सब सुन्दर वस्त्र हटावे रे ॥६॥

तू कहता धन घर मेरा।
अब हुआ लदाऊ डेरा।
चले पुण्य पाप संग तेरा रे ॥७॥

ज्ञानी जन कहते हैं—संसार की प्रीति झूठी है! संसार की प्रीति झूठी है!! कुटुम्बी जन जब समझ लेते हैं कि अब इससे हमारा कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता तो उसे उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। जब तक उससे स्वार्थ सधता है तभी तक प्रीति का प्रदर्शन करते हैं। अतएव अगर तुम चतुर हो तो इस तथ्य को समझो और तत्त्व का बोध प्राप्त करो। अपने परिणामों की धारा को उज्ज्वल बनाओ। परिणामों की उज्ज्वलता से भविष्य उज्ज्वल बनेगा।

मगर लोक संसार के और इस जीवन के कर्मों में इतने अधिक व्यस्त और व्यग्र रहते हैं कि उन्हें तत्त्वचिन्तन के लिए समय ही नहीं है। इसी कारण इस स्वार्थमय संसार में यह आत्मा ऐसी जकड़ी हुई है कि निकलने का नाम ही नहीं लेती।

लोक में कहावत प्रचलित है—'अन्त मति सो गति।' अर्थात्-अन्तिम समय में जैसे शुभाशुभ विचार होंगे, वैसी ही उस जीव की गति हो जाएगी। इस कथन में पर्याप्त सचाई है, क्योंकि जीव ने आयु का बंध अगर पहले कर लिया होगा तो उसी के अनुसार उसके भावों में परिवर्त्तन हो जाएगा। अगर पहले आयु का बंध नहीं किया होगा तो अन्तिम समय के परिणामों के अनुसार आयु बंध होगा और उसी के अनुसार गति भी होगी। मगर इस सम्बन्ध में एक बात विशेष ध्यान देने की है। वह यह है कि मनुष्य का समग्र जीवन जिस प्रकार के आचारों और विचारों में व्यतीत हुआ होगा, प्राय: उसी का प्रभाव अन्तिम समय की विचारधारा पर पड़ता है। सारा जीवन जिसने पापाचार में व्यतीत किया है वह चाहे कि मैं अपना अन्तिम क्षण सुधार लूँ और ऊँची गति पा लूँ तो ऐसा होना सरल नहीं है। अतएव परभव को सुखमय बनाने का अच्छा उपाय यही है कि अपने जीवन के समस्त भाग को पवित्र बनाया जाय।

यदि शुद्ध हृदय से अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अममत्व आदि वीतराग के फर्माये हुए सिद्धान्तों को अपनाओगे तो जीवन सफल हो जाएगा, अन्यथा नरक की यातनाएँ सहनी पड़ेंगी। अतएव मिथ्यात्व के मार्ग में न जाकर सत्य मार्ग को ग्रहण करो। हृदय में शुद्ध भावनाओं को स्थान दो। इससे आपका वास्तविक कल्याण होगा और आपके लिए आनन्द ही आनन्द होगा।

ब्यावर
१२-८-४१